कलम, तलवार और त्याग

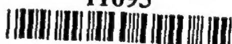
लेखक

प्रेमचन्द



सरस्वती प्रेस

बनारस कैंट



शाखाएं : बनारस : इलाहाबाद : दिल्ली : लखनऊ

प्रथमावृत्ति, नवंबर, १९३९.
द्वितीयावृत्ति, जून, १९४४.
युद्ध-जनित अतिरिक्त व्यय-सहित
मूल्य : १॥)

सूची

राणा प्रताप

राजस्थान के इतिहास का एक-एक पृष्ठ साहस, मर्दानगी और वीरोचित प्राणोत्सर्ग के कारनामों से जगमगा रहा है। बापा रावल, राणा सांगा, और राणा प्रताप ऐसे-ऐसे उज्ज्वल नाम हैं कि यद्यपि काल के प्रखर प्रवाह ने उन्हें धो बहाने में कोई कसर नहीं उठा रखी, फिर भी अभी तक जीवित हैं और सदा जीते तथा चमकते रहेंगे। इनमें से किसी ने भी राज्यों की नींव नहीं डाली, बड़ी-बड़ी विजयें नहीं प्राप्त कीं, नये राष्ट्र नहीं निर्माण किये, पर इन पूज्य पुरुषों के हृदयों में वह ज्वाला जल रही थी जिसे स्वदेश-प्रेम कहते हैं। वह यह नहीं देख सकते थे कि कोई बाहरी आये और हमारे देश में हमारे बराबर का होकर रहे। उन्होंने मुसीबतें उठाईं, जानें गँवाईं, पर अपने देश पर कब्जा करनेवालों के कदम उखाड़ने की चिन्ता में सदा जलते-जुड़ते रहे। वह इस नरम विचार वा मध्यम वृत्ति के समर्थक न थे कि 'मैं भी रहूँ और तू भी रह।' उनके दावे ज़्यादा मर्दानगी और बहादुरी के थे कि 'रहें तो हम रहें या हमारे जातिवाले, कोई दूसरी कौम हर्गिज़ कदम न जमाने पायें।' उनकी कार्यावली इस योग्य है कि हमारे धार्मिक साहित्य का अंग बने। इस समय हम केवल राणा प्रताप का जीवनवृत्तान्त पाठकों को भेंट करते हैं जो जब तक जीवित रहा, अकबरी दबदबे का सामना करता रहा। उस वक्त जब कोटा, जैसलमेर, अम्बर, मारवाड़ सभी देशों के नरेश दरबार अकबरी की जय मनानेवाले या उसके आश्रित बन चुके थे, यह वीरत्व-वन-केसरी, यह अध्यवसाय-नद का मगरमच्छ, यह दृढ़ता-

पथ का पथिक अकेले दम पर उनकी सम्मिलित शक्ति का सामना करता रहा। पहाड़ों के दर्रों और पेड़ों के खोखलों में छिप-छिपकर उस अनमोल हीरे को दुश्मन के हाथ में पड़ने से बचाता रहा जिसको जातीय स्वाधीनता कहते हैं। जब मरा तो उसके पास अपनी वज्रघातिनी तलवार और थोड़े से सच्चे साथियों के सिवा राजसिक वैभव का और कोई सामान न था, जितने मित्र और सहायक थे सब या तो सत्-धर्म का पालन करते हुए वीरगति प्राप्त कर चुके थे, या अकबरी इकबाल का दम भरने लगे थे, पर यह अकिंचन मृत्यु उस सुनहरे सिंहासन पर तथा मित्र शुभचिन्तकों के उस जमघट में मरने से हजार दर्जे अच्छी है जो जाति की स्वाधीनता, आत्मा की दासता और देश के अपमान के बदले में मिले हों।

प्रताप उदयसिंह का बेटा और शेरदिल दादा सांगा का पोता था। राणा सांगा और बाबर के संग्राम इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं, यद्यपि राणा की पराजय हुई पर स्वदेशी रक्षा में अपना रक्त बहाकर उसने सदा के लिए अपना नाम उज्ज्वल कर लिया। उसका बेटा उदयसिंह बाप के वीरोचित गुणों का उत्तराधिकारी न था। कुछ दिनों तक तो वह चित्तोड़ को मुगलों के द्वारा पादाक्रांत होने से बचाता रहा, पर ज्यों ही अकबर के तेवर बदले देखे, शहर जगमल को सिपुर्द करके अरौली की पहाड़ियों में जा छिपा, और वहाँ एक नये नगर की नींव डाली जो आज तक उसके नाम से उदयपुर मशहूर है। जगमल ने जिस वीरता से शत्रु का सामना किया, चित्तौड़ के सब वीर जिस तरह सिर हथेली पर रखकर दुश्मन को हटाने के लिए तैयार हुए, चित्तौड़ की सुकुमार ललनाओं ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जिस दृढ़ता से अग्निकुण्ड में कूदकर जल मरने को श्रेयस्कर समझा,—यह बातें आज सबकी ज़बान पर हैं और ऐतिहासिकों की लेखनियाँ उनकी चर्चा में सदा आनन्द से थिरकती रहेंगी।

उधर भगोड़ा उदयसिंह अपने पहाड़ी किले में अपने साथियों सहित जीवन बिताता रहा। महाराणा प्रताप ने इन्हीं पहाड़ियों के बीच प्राकृतिक दृश्यों से शिक्षा पाई। शेरों से मर्दानगी का तो पहाड़ों से अपने संकल्प पर अटल रहने का पाठ पढ़ा। पिता की मृत्यु होने तक स्वच्छन्द विचरण और आखेट के सिवा उसे और कोई काम न था। हाँ, अपने राज्य की बर्बादी, अपने समकालीन हिन्दू नरेशों की भीरुता, मुगल बादशाहों के दबदबे, और मेवाड़ घराने के बहादुरी के कारनामों ने उसके आनेवाले और उत्साह भरे हृदय को टहोके दे-देकर उभार रहा था। पिता के निधन के बाद जब वह गद्दी पर बैठा तो गौरवमय मेवाड़ राज्य का अस्तित्व केवल नाम के लिए रह गया था। न कोई राजधानी थी, न सेना, न कोष। साथी सहायक बार-बार हार खाते-खाते और परेशानियाँ उठाते-उठाते हिम्मत हार बैठे थे। प्रताप ने आते ही उनके दबे हुए हौसलों को उभारा, सुलगती आग को दहकाया, और उन्हें चित्तौड़ की बर्बादी तथा रक्तपात का बदल लेने के लिए तैयार किया। उसका भावभरा हृदय कब इस बात को सहन कर सकता था कि जो स्थान उसके कीर्तिशाली पूर्व पुरुषों का निवास-स्थल रहा, जिसके दरो-दीवार उनके रक्त से रँगे हैं, और जिसकी रक्षा के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बलि दी हो वह दुश्मन के कब्जे में रहे। और उनके बेअदब पैरों से रौंदा जाय। उसने अपने साथियों, सरदारों और आनेवाली पीढ़ियों को कसम दिलाई कि जब तक चित्तौड़ पर तुम्हारा अधिकार न हो जाय तुम सुख-विलास से दूर रहो। तुम क्या मुँह लेकर 'सोने-चाँदी के बर्तनों में खाओगे, और मखमली गद्दों पर सोओगे, जब कि तुम्हारे बाप-दादों का देश शत्रुओं के अत्याचार से रोता-चिल्लाता रहेगा? तुम क्या मुँह लेकर आगे नगाड़े बजाते और अपनी (सिसोदिया) जाति का झंडा ऊँचा किये हुए निकलोगे जब कि वह स्थल जहाँ तुम्हारे बाप-दादों की

नालें गड़ी हैं और जो उनके कीर्तिकलाओं का सजीव स्मारक है, शत्रु के पैरों से रौंदा जा रहा है। तुम क्षत्रिय हो, तुम्हारे ख़ून में जोश है, तुम क़सम खाओ कि जब तक चित्तौड़ पर अधिकार न कर लोगे, हरे पत्तों पर खाओगे, बोरिये पर सोओगे, और नगाड़ा सेना के पीछे रखोगे, क्योंकि तुम मातम कर रहे हो, और यह बातें तुमको सदा याद दिलाती रहेंगी कि तुमको एक बड़े जातीय कर्तव्य का पालन करना है। राणा जब तक जीवित रहा इन व्रतों का पालन करता रहा, उसके बाद उसके उत्तराधिकारी भी उनका पालन करते आये, और अब तक यह रसम चली आती है, अन्तर यह है कि पहले इस रस्म का कुछ अर्थ था, अब वह बिलकुल बेमानी हो गई है। विलासिता ने निकास की सूरतें निकाल ली हैं, तो भी जब सुनहरे बर्तनों में खाते हैं तो चंद पत्ते ऊपर से रख लेते हैं। मख़मली गद्दों पर सोते हैं तो इधर-उधर पयाल के टुकड़े फैला देते हैं।

राणा ने इतने ही पर सन्तोष न किया। उसने उदयपुर को छोड़ा और कुंभलनेर को राजधानी बनाया। अनावश्यक और अनुचित खर्चे जो महज नाम और दिखावे के लिए किये जाते थे, बन्द कर दिये, जागीरों का फिर से नई शर्तों के अनुसार वितरण किया। मेवाड़ का वह सारा हल्का जहाँ शत्रु का प्रवेश संभव हो सकता था, और पर्वत प्राचीर के बाहर था, सपाट मैदान बना दिया गया। कुएँ पटवा दिये गये और सारी आबादी पहाड़ों के अन्दर बसा दी गई। सैकड़ों मील तक उजाड़ खण्ड हो गया और यह सब इसलिए कि अकबर इधर रुख करे तो उसे कर्बला के मैदान का सामना हो। उस उपजाऊ मैदान में अनाज के बदले लम्बी-लम्बी घास लहराने लगी, बबूल के काँटों से रास्ते बन्द हो गये और जंगली जानवरों ने उसे अपना घर बना लिया। परन्तु अकबर भी राज्यविस्तार-विद्या का आचार्य था। उसने राजपूतों की तलवार की काट देखी थी और खूब जानता था कि

राजपूत जब अपनी जानें बेचते हैं तो सस्ती नहीं बेचते। इस शेर को छेड़ने से पहले उसने मारवाड़ के राजा मालदेव को मिलाया। आमेर का राजा भगवानदास और उसका बहादुर बेटा मानसिंह दोनों पहले ही अकबर के बेटे बन चुके थे। दूसरे राजाओं ने जब देखा कि ऐसे-ऐसे प्रबल प्रतापी नरेश अपनी जान की खैर मना रहे हैं तो वह भी एक-एक करके शुभचिन्तक बन गये। इनमें कोई राणा का मामू था तो कोई फूफा। यहाँ तक कि उसका चचेरा भाई सागरजी भी उससे विमुख होकर अकबर से आ मिला था। ऐसी अवस्था में कोई आश्चर्य नहीं कि जब राणा ने अपने विरुद्ध मुग़ल सेना की जगह अपनी ही जाति के सूरमाओं और घोड़सवारों को आते देखा हो, अपने ही भाइयों, अपने ही सगे-सम्बन्धियों को तलवार खींचकर सामने खड़ा पाया हो, तो उसकी तलवार एक क्षण के लिए रुक गई हो, तनिक देर के लिए वह खुद ठिठक गया हो और महाराज युधिष्ठिर की तरह पुकार उठा हो—'क्या मैं अपने ही भाई-बंदों से लड़ने के लिए आया हूँ? इसमें संदेह नहीं कि इन भाई-बंदों से वह कितनी ही बार लड़ चुका था, राजस्थान का इतिहास ऐसे गृहयुद्धों से भरा पड़ा है, पर ये लड़ाइयाँ उन्हें एक दूसरे से विलग नहीं करती थीं। दिन भर एक दूसरे के खून में भाले भिगोने के बाद शाम को वह फिर मिल बैठते थे और परस्पर प्रेमालिंगन करते थे, पर आज राणा को ऐसा मालूम हुआ कि ये भाई-बन्द मुझसे सदा के लिए बिछुड़ गये हैं, क्योंकि वह सच्चे राजपूत नहीं रह गये। उनकी बेटियाँ और बहनें अकबर के अन्तःपुर में दाख़िल हो गई हैं। हा शोक! इन राजपूतों की राजपूती खून ऐसा ठंढा हो गया है। क्या रज-पूती आन और जाति-अभिमान इनमें नाम को भी बाक़ी नहीं। हा! अपनी मानप्रतिष्ठा की रक्षा का विचार क्या उनके मन से ही बिलकुल उठ गया। शोक कि उन्हीं राजपूत ललनाओं की बहनें जो चित्तौड़ के घेरे के समय अपने सतीत्व की रक्षा के लिए

'जौहर' करके जल मरी थीं, आज अकबर के पहलू में बैठी हैं और प्रसन्न हैं। उनके म्यान से तेगा क्यों नहीं निकल पड़ता। उनके कलेजे क्यों नहीं फट जाते। उनकी आँखों से खून क्यों नहीं टपक पड़ता, हा हन्त! इक्ष्वाकु के वंश और पृथ्वीराज के कुल की यह दुर्दशा हो रही है!

प्रताप ने उन राजाओं से जिन्होंने उसके विचार से राजपूतों को इतना जलील किया था, सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उनके साथ शादी-ब्याह की तो बात ही क्या खाना-पीना तक उचित न समझा। जब तक मुग़ल-राज्य बना रहा, उदयपुर के घराने ने केवल यही नहीं किया कि शाही खानदान से ही इस प्रकार का नाता न जोड़ा, बल्कि अम्बर और मारवाड़ को भी बिरादरी से खारिज समझा दिया। उदयपुर यद्यपि अपनी नीति-रीति को निभाते चलने के कारण, विपद् गर्त में गिरा और दूसरे राजघराने अपना बाना त्याग कर फलते-फूलते रहे, पर सारे राजस्थान में ऐसा कोई कुल न था जिस पर उदयपुर का नैतिक रोब न छाया हो और जो उसके कुल-गौरव को स्वीकार न करता हो। यहाँ तक कि जब महाराज जयसिंह और महाराज बख्तसिंह जैसे शक्तिशाली नरेशों ने उदयपुर से पवित्र बनाये जाने की प्रार्थना की और वह स्वीकृत हुई तो यह शर्त लगा दी गई कि उदयपुर राजकुल की लड़की चाहे जिस कुल में ब्याही जाय, सदा उसी की सन्तान गद्दी पर बैठेगी।

काश राणा अपनी घृणा को अपने दिल ही तक रखता, ज़बान तक न आने देता, तो बहुत-सी विपत्तियों से बच जाता। पर उसका वीर-हृदय दबना जानता ही न था। मानसिंह सोलापुर की मुहिम की ओर चला आ रहा था कि राणा से मिलने के लिए कुंभलमेर चला आया। राणा स्वयं उसकी अगवानी को गया और बड़े ठाठ से उसकी दावत की, पर जब खाने का समय आया तो कहला भेजा कि मेरे सिर में दर्द है। मानसिंह ताड़ गया कि

इनको मेरे साथ बैठकर खाने में आपत्ति है। झल्लाकर उठ खड़ा हुआ और बोला, 'अगर मैंने तुम्हारा गर्व चूर्ण न कर दिया तो मानसिंह नाम नहीं। तब तक राणा भी वहाँ पहुँच गया था और बोला—जब तुम्हारा जी चाहे चले आना। मुझे हरदम तैयार पाओगे। मानसिंह ने आकर अकबर को उभारा। बारूद पर पलीता पहुँच गया। फ़ौरन्, राणा पर हमला करने के लिए फ़ौज तैयार करने का हुक्म हुआ। शाहज़ादा सलीम प्रधान सेनापति बनाये गये। मानसिंह और महावत खाँ उनके सलाहकार नियुक्त हुए।

राणा भी अपने बाईस हज़ार शूरवीर और मृत्यु को खेल समझनेवाले राजपूतों के साथ हल्दीघाटी के मैदान में पैर जमाये खड़ा था। ज्यों ही दोनों सेनाएँ आमने-सामने हुईं, प्रलयकाण्ड उपस्थित हो गया। मानसिंह के साथियों के दिलों में अपने सरदार के अपमान की आग जल रही थी और वह उसका बदला लेना चाहते थे। राणा के साथी भी यह दिखा देना चाहते थे कि अपनी स्वाधीनता हमें जान से भी अधिक प्यारी है। राणा ने बहुतेरा चाहा कि मानसिंह से मुठभेड़ हो जाय तो ज़रा दिल का हौसला निकल जाय। पर इस यत्न में उन्हें सफलता न हुई। हाँ, संयोगवश उनका घोड़ा सलीम के हाथी के सामने आ गया, फिर क्या था। राणा ने चट रिकाब पर पाँव रखकर भाला चलाया जिसने महावत का काम तमाम कर दिया। चाहता था कि दूसरा तुला हुआ हाथ चलाकर अकबर का चिराग गुल कर दे कि हाथी भागा। शाहज़ादे को ख़तरे में देख उसके सिपाही लपके और राणा को घेर लिया। राणा के राजपूतों ने देखा कि सरदार घिर गया तो उन्होंने भी जान तोड़कर हल्ला किया, और उसे प्राण-संकट से साफ़ निकाल लाये। फिर तो वह घमसान का युद्ध हुआ कि ख़ून की नदियाँ बह गईं। राणा जख़्मों से चूर-चूर हो रहा था। शरीर से रक्त के फुहारे छूट रहे थे।

पर तंग-हाथ में लिये बिगड़े हुए शेर की तरह मैदान में डटा था, शत्रुदल उनके छत्र को देख-देखकर उसी स्थान पर अपने पूरे बल से धावा करता, पर राणा ने पाँव आगे बढ़ाने के सिवाय पीछे हटाने का नाम भी न लिया। यहाँ तक कि तीन बार दुश्मनों की ज़द में आते-आते बच गया। पर इस समय तक लड़ाई का रुख़ पलटने लगा। हृदय की वीरता और हिम्मत का जोश तोप-बन्दूक, गोला-बारूद के सामने कब तक टिक सकता था। सरदार झाला ने जब यह रंग देखा तो चट छत्र-वाहक के हाथ से छत्र छीन लिया और उसे हाथ में लिये एक चक्करदार स्थान को चला गया। शत्रु ने समझा कि राणा जा रहा है, उसके पीछे लपके। इधर राणा के साथियों ने मौक़ा पाया तो उसे मैदान से सकुशल बचा ले गये। पर सरदार झाला ने अपने डेढ़ सौ साथियों सहित वीर-गति प्राप्त की और स्वामि-ऋण से उऋण हो गये। चौदह हजार बहादुर राजपूत हलदीघाट के मैदान को अपने ख़ून से सींच गये जिनमें ५०० से अधिक राजकुल के ही राजकुमार थे।

मेवाड़ में जब इस पराजय की ख़बर पहुँची तो घर-घर कुह-राम मच गया। ऐसा कोई कुल न था जिसका एक न एक सपूत रण-देवी की बलि न हुआ हो। मेवाड़ का बच्चा-बच्चा आज तक हल्दीघाटी के नाम पर गर्व करता है। भाट और कवीश्वर गलियों और सड़कों पर हल्दीघाटी की घटना सुनाकर लोगों को रुलाते हैं, और जब तक मेवाड़ का कोई कवीश्वर ज़िंदा रहेगा और उसके हृदय-स्पर्शी कवित्व की क़दर करने वाले बाक़ी रहेंगे, तब-तक हल्दीघाटी की याद हमेशा ताज़ी रहेगी।

उधर राणा अपने स्वामि-भक्त घोड़े चेटक पर सवार अकेला एकदम चल निकला। दो मुग़ल सरदारों ने उसे पहचान लिया और उनके पीछे घोड़े डाल दिये। अब आगे-आगे ज़ख़्मी राणा बढ़ा जा रहा है, उसके पीछे-पीछे दोनों सरदार घोड़ा दबाये बढ़े

आते हैं। चेटक भी अपने मालिक की तरह ज़ख्मों से चूर है। वह कितना ही ज़ोर मारता, कितना ही जी तोड़कर कदम उठाता, पर पीछा करनेवाले निकट आते जा रहे हैं। अब उनके पाँवों की चाप सुनाई देने लगी। अब वह पहुँच गये। राणा तेगा साँस लेता है कि यकायक उसे कोई पीछे से ललकारता है, ओ नीले घोड़े के सवार! ओ नीले घोड़े के सवार! बोली और ध्वनि बिलकुल मेवाड़ी है। राणा भौंचक्का होकर पीछे देखता है तो उसका चचेरा भाई शक्त चला आ रहा है है। शक्त प्रतापसे नाराज़ होकर अकबर से जा मिला था और उस समय शाहज़ादा सलीम के साथियों में था। पर अब उसने नीले घोड़े के सवार को ज़ख्मों से चूर बिलकुल अकेला मैदान से जाते हुए देखा तो बिरादराना ख़ून जोश में आ गया। पुरानी शिकायतें और मैल दिल से बिलकुल धुल गये और तुरत पीछा करनेवालों में जा मिला। और अन्त में उन्हें अपने भालों से धराशायी करता हुआ राणा तक पहुँच गया। उस समय अपने जीवन में पहली बार दोनों भाई बन्धुत्व और अपने मन के सच्चे जोश से गले-गले मिले, यहाँ स्वामिभक्त चेटक ने दम तोड़ दिया। शक्त ने अपना घोड़ा भाई के नज़र किया। राणा ने जब चेटक की पीठ से जीन उतारकर उस नये घोड़े की पीठ पर रखा तो वह फूट-फूटकर रो रहा था। उसे किसी सगे सम्बन्धी के मर जाने का इतना दुःख न हुआ था। क्या सिकन्दर का घोड़ा बस्फाला चेटक से अधिक स्वामिभक्त था? पर उसके स्वामी ने उसके नाम पर नगर बसा दिया था। राणा का वह विपद् काल था। उसने केवल आँसू बहाकर ही संतोष किया। आज उस स्थान पर एक टूटा-फूटा चबूतरा दिखाई देता है, जो चेटक के स्वामी पर प्राण निछावर कर देने का साक्षी है।

शाहज़ादा सलीम विजय-दुंदुभी बजाता हुआ पहाड़ियों से निकला। उस समय तक बरसात का मौसिम शुरू हो गया था और चूँकि जलवायु के विचार से यह काल उन पहाड़ियों में बड़े

कष्ट का होता है, इसलिए राणा को तीन-चार महीने इतमीनान रहा, पर वसन्त-काल आते ही शत्रु-सेना ने फिर धावा किया। महावतखाँ उदयपुर पर हुकूमत कर ही रहा था, कोका शहबाजखाँ ने कुंभलमेर को घेर लिया। राणा और उसके साथियों ने यहाँ भी खूब वीरता दिखाई। पर किसी घर के भेदी ने जो अकबर से मिला हुआ था, किले के भीतर कुँए में ज़हर मिला दिया और राणा को वहाँ से निकल जाने के सिवा और कोई रास्ता न दिखाई दिया। फिर भी उसके एक सरदार ने जिसका नाम भानु था, मरते दम तक क़िले को दुश्मनों से बचाये रखा। उसके वीरगति प्राप्त लेने के बाद इस किले पर भी अकबरी झण्डा फहराने लगा।

कुंभलमेर पर कब्जा कर लेने के बाद राजा मानसिंह ने धरमेती और गोगंडा के क़िलों को जा घेरा। अब्दुला नाम के एक और सरदार ने दक्षिण दिशा से चढ़ाई की। फरीदखाँ ने छप्पन पर हमला किया। इस प्रकार चारो ओर से घिरकर प्रताप के लिए अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेने के सिवा और कोई रास्ता न रहा, पर वह शेरदिल राजपूत उसी दमखम, उसी हिम्मत व हौसिले और उसी दृढ़ता के साथ शत्रु का सामना करता रहा, कभी अँधेरी रात में जब शाही फ़ौज बेख़बर सोती होती, वह अचानक अपनी घात की जगह से निकल पड़ता, इशारों से अपने साथियों को इकट्ठा कर लेता और जो शाही फ़ौज क़रीब होती, उसी पर चढ़ दौड़ता। फरीदखाँ तो जो राणा को गिरफ़्तार करने के लिए जंजीर बनवाये बैठा था। उसने ऐसी चतुराई से एक दुर्गम घाटी में जा घेरा कि उसकी सेना का एक भी आदमी जीवित न गया।

आख़िर शाही फौज भी इस ढंग की लड़ाई से ऊब गई। मैदानों के लड़नेवाले मुगल पहाड़ों में लड़ना क्या जानें। उसपर से जब वर्षा आरम्भ हो जाती तो चौतरफा महामारी फैल जाती, यह बरसात के दिन प्रताप के लिए ज़रा दम लेने के दिन थे। इसी तरह कई बरस बीत गये। प्रताप के साथियों में से कुछ ने तो लड़कर

वीरगति प्राप्त की, कुछ यों ही मर-खप गये। कुछ जो ज़रा बोदे थे, इधर-उधर दबक रहे। रसद और खुराक के लाले पड़ गये। प्रताप को सदा यह खटका लगा रहता कि कहीं मेरे लड़के-वाले शत्रु के पंजे में न फँस जायँ। एक बार वहाँ के जंगली भीलों ने उनको शाही फ़ौज से बचाया और एक टोकरे में रख जावरा की खानों में छिपा दिया, जहाँ वह उनकी सब प्रकार रक्षा और देख-भाल करते रहे। वह बल्ले और जंजीरें अभी तक मौजूद हैं—जिनमें यह टोकरे लटका दिये जाते थे, जिसमें हिंस्र जन्तुओं से बच्चों को डर न रहे। ऐसे-ऐसे कष्ट-कठिनाइयाँ झेलने पर भी प्रताप का अटल निश्चय तनिक भी न हिला। वह अब भी किसी गुफा में अपने मुट्ठी भर आख़िरी दम तक साथ देनेवाले और सब प्रकार का अनुभव रखनेवाले साथियों के बीच उसी आन-बान के साथ बैठता जैसे राज-सिंहासन पर बैठता था। उनके साथ उसी राजसी ढंग से बर्ताव करता। ज्योनार के समय ख़ास-ख़ास आदमियों को दोने प्रदान करता। यद्यपि यह दोने महज जंगली फलों के होते थे; परन्तु पानेवाले उन्हें बड़े आदर-सम्मान के साथ लेते, माथे चढ़ाते और प्रसाद-वत भोजन करते थे, इसी वज्र सी दृढ़ता ने राणा को राजस्थान के सम्पूर्ण राजाओं की निगाह में हीरो—आदर्श वीर बना दिया, जो लोग अकबर के दरबारी बन गये थे, वह भी अब राणा के नाम पर गर्व करने लगे। अकबर जो प्रकृति के दरबार से वीरता और मर्दानगी लेकर आया था, और बहादुर दुश्मन की क़द्र करना जानता था, ख़ुद भी अपने सरदारों से प्रताप की वीरता और साहस की सराहना करता। दरबार के कवि राणा की बड़ाई में पद्य रचने लगे। अब्दुर्रहीम खान-खानां ने जो हिन्दी-भाषा में बड़ी सुन्दर कविता करते थे, मेवाड़ी भाषा में राणा की वीरता का बखान किया।... वाह! कैसे गुणज्ञ और उदार हृदय लोग थे कि शत्रु की

वीरता को सराहकर उसका दिल बढ़ाते और हौसले उभारते थे।

पर कभी-कभी ऐसे भी अवसर आ जाते कि अपने कुटुम्बियों, प्यारे बच्चों के कष्ट उससे न देखे जाते। उस समय उसका दिल बैठ जाता और अपने हाथ छाती में छुरी भोंक लेने को जी चाहता। शाही फ़ौज ऐसी घात में लगी रहती कि पका हुआ खाना खाने की नौबत न आती। भोजन के लिए हाथ-मुँह धो रहे हैं कि जासूस ने ख़बर दी शाही फ़ौज आ गई और तुरत सब छोड़-छाड़ भागे। एक दिन राणा एक पहाड़ी दर्रे में लेटा हुआ था। रानी और उसकी पुत्रवधू कन्दमूल की रोटियाँ पका रही थीं। बच्चे खाना पाने की खुशी में इधर-उधर कुलेलें करते फिरते थे, आज पाँच फ़ाके गुज़र चुके थे। राणा न जाने किस विचार-सागर में डूबता-उतराता बच्चों की चेष्टाओं को निराशा-भरी आँखों से देख रहा था। हा! यह वह बच्चे हैं जिनको मखमली गद्दों पर नींद न आती थी, जो दुनिया की नियामतों की ओर उठा-उठाकर न देखते थे, जिनको अपने बेगाने सभी गोद की जगह सिर-आँखों पर बिठाते थे, आज उनकी यह हालत है कि कोई बात नहीं पूछता, न कपड़े हैं न लत्ते, कन्दमूल की रोटियों की आशा पर मगन हो रहे हैं और उछल-कूद रहे हैं। वह इन्हीं दिल बैठा देनेवाले विचारों में डूबा हुआ था कि अचानक अपनी प्यारी बेटी की ज़ोर की चीख ने उसे चौंका दिया। देखता है, तो एक जंगली बिल्ली उसके हाथ से रोटी छीने लिये जा रही है और वह बेचारी बड़े करुण स्वर में रो रही है। हाय! बेचारी क्यों न रोये? आज पाँच फ़ाकों के बाद आधी रोटी मिली थी, फिर नहीं मालूम कै कड़ाके गुजरेंगे! यह देखकर राणा की आँखों में आँसू उमड़ आये। उसने अपने जवान बेटों को रंगभूमि में अपनी आँखों से दम तोड़ते देखा था; पर कभी उसका हृदय

कातर न हुआ था, कभी आँखों में आँसू न आये थे। मरना, मारना तो राजपूत का धर्म है। इसपर कोई राजपूत क्यों आँसू बहाये। पर आज इस बालिका के विलाप ने उसे विवश कर दिया। आज क्षण भर के लिए उसकी दृढ़ता के पाँव डिग गये। कुछ क्षण के लिए मानव-प्रकृति ने वैयक्तिक विशेषत्व को पराजित कर दिया। सहृदय व्यक्ति जितने ही शूर और साहसी होते हैं, उतने ही कोमलचित्त भी होते हैं। नेपोलियन बोनापार्ट ने हज़ारों आदमियों को मरते देखा था और हज़ारों को अपने ही हाथों ख़ाक पर सुला दिया था। पर एक भूखे, दुबले कमज़ोर कुत्ते को अपने मालिक की लाश के इधर-उधर मँडलाते देख उसकी आँखों से अश्रुधारा उमड़ पड़ी थी। राणा ने लड़की को गोद में ले लिया और बोला—धिक्कार है मुझको कि केवल नाम के राजत्व के लिए अपने प्यारे बच्चों को इतने क्लेश दे रहा हूँ। उसी समय अकबर के पास पात्र भेजा कि अब कष्ट सहे नहीं जाते, मेरी दशा पर कुछ दया कीजिए।

अकबर के पास यह सँदेसा पहुँचा तो मानो कोई अप्रत्याशित वस्तु मिल गई। ख़ुशी के मारे फूला न समाया। राणा का पत्र दरबारियों को सगर्व दिखाने लगा। मगर दरबार में अगुणज्ञ लोग बहुत कम होंगे, जिन्होंने राणा की अधीनता के समाचार को प्रसन्नता के साथ सुना हो। राजे-महाराजे यद्यपि अकबर की दरबारदारी करते थे, पर स्वजाति के अभिमान के नाते सबके हृदय में राणा के लिए सम्मान का भाव था। उनको इस बात का गर्व था कि यद्यपि हम पराधीन हो गये हैं, पर हमारा एक भाई अभी तक स्वाधीन राजत्व का डंका बजा रहा है। और क्या आश्चर्य कि कभी-कभी अपने दिलों में इतने सहज में वश्यता स्वीकार कर लेने पर लज्जा भी अनुभव करते हों। इनमें बीकानेर नरेश का छोटा भाई पृथ्वीसिंह भी था जो बड़ा तलवार का धनी, और शूरवीर था। राणा के प्रति उसके हृदय में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई

थी, उसने जो यह खबर सुनी तो विश्वास न हुआ। पर राणा की लिखावट देखी तो दिल को गहरी चोट पहुँची, खानखानाँ की तरह वह भी न केवल तलवार का धनी था, बल्कि सहृदय कवि भी था और वीर-रस के छन्द रचा करता था। उसने अकबर से राणा के पास पत्र भेजने की अनुमति प्राप्त कर ली। इस बहाने से कि मैं उसके अधीनता-स्वीकार के समाचार की प्रामाणिकता की जाँच करूँगा। पर उस पत्र में उसने अपना हृदय निकालकर रख दिया। ऐसे-ऐसे वीर-रस भरे, ओजस्वी और उत्साहवर्द्धक पद्य लिखे कि राणा के दिल पर वीर-विरुदावली का काम कर गये। उसके दबे हुए हौसलों ने फिर सिर उभारा, आज़ादी का जोश फिर मचल उठा और अधीनता-स्वीकार का विचार कपूर की तरह मन से उड़ गया।

पर अबकी बार उसके विचारों ने कुछ और ही रूप ग्रहण किया। बार बार की हार और विफलता ने उस पर साबित कर दिया कि इन गिने साथियों और पुराने जंग खाये हुए हथियारों से अकबरी प्रताप के प्रवाह को रोकना अति कठिन ही नहीं; किन्तु असंभव है, अतः क्यों उस देश को जहाँ से स्वाधीनता सदा के लिए चली गई, अन्तिम नमस्कार करके किसी ऐसे स्थान पर सिसौदिया कुल का केसरिया झण्डा गाड़ा जाय, जहाँ उसके झुकने का कोई डर ही न हो। बहुत बहस-मुबाहसे के बाद यह सलाह तै पाई कि सिंधुनद के तट पर, जहाँ पहुँचने में शत्रु को एक रेगिस्तान पार करना पड़ेगा, नया राज्य स्थापित किया जाय। कैसा विशाल हृदय और कितनी ऊँची हिम्मत थी कि इतनी पराजयों के बाद भी ऐसे ऊँचे इरादे दिल में पैदा होते थे। यह विचार पक्का करके राणा अपने कुटुम्बियों और बचे-खुचे साथियों को लेकर इस नई मुहिम पर चल खड़ा हुआ और अरावली के पश्चिमी अंचल को पार करता हुआ मरुभूमि के किनारे तक जा पहुँचा। पर इस बीच एक ऐसी शुभ घटना घटित हुई जिसने

उसका विचार बदल दिया और उसे अपनी प्रिय जन्मभूमि को लौट आने की प्रेरणा की। राजस्थान का इतिहास केवल प्राणोत्सर्ग और लोकोत्तर वीरता की कथाओं से ही नहीं भरा हुआ है, स्वामि-भक्ति और वफ़ादारी के सतत स्मरणीय और गर्व करने योग्य दृष्टान्त भी उसमें उसी तरह भरे पड़े हैं। भामाशाह ने जिसके पुरखे चित्तौड़ राज्य के मंत्री रहे, जब अपने मालिक को देश-त्याग करते हुए देखा तो नमकख्वारी का जोश उमड़ आया। हाथ बाँधकर राणा की सेवा में उपस्थित हुआ और बोला—महाराज, मैंने अनेक पीढ़ियों से आपका नमक खाया है, मेरी जमा-जथा जो कुछ है, आप ही की दी हुई है। मेरी देह भी आप ही की पाली-पोसी हुई है। क्या मेरे जीते जी अपने प्यारे देश को आप सदा के लिए त्याग देंगे? यह कहकर उस वफ़ादारी के पुतले ने अपने खजाने की कुंजी राणा के चरणों पर रख दी। कहते हैं कि उस खजाने में इतनी दौलत थी कि उससे २५ हज़ार आदमी १२ साल तक अच्छी गुज़र कर सकते थे। उचित है कि आज जहाँ राणा प्रताप के नाम पर श्रद्धा के हार चढ़ाये जायँ, वहाँ भामाशाह के नाम पर भी दो-चार फूल बिखेर दिये जायँ।

कुछ तो इस प्रचुर धनराशि की प्राप्ति और कुछ पृथ्वीसिंह की वीर-भाव-भरी कविता ने राणा के डगमगाते हुए मन को फिर से दृढ़ कर दिया, उसने अपने साथियों को जो इधर-उधर बिखर गये थे, झटपट फिर जमा कर लिया। शत्रु तो निश्चिन्त बैठे थे कि अब यह बला अरावली के उस पार रेगिस्तान से सर मार रही होगी कि राणा अपने दल के साथ शेर की तरह टूट पड़ा और कोका शाहबाज़खाँ को जो दोयर में सेना लिये निश्चिन्त पड़ा था जा घेरा। दम के दम में सारी सेना धराशायी बना दी गई। अभी शत्रु पक्ष पूरी तरह सजग न होने पाया था कि राणा कुंभलमेर पर जा डटा और अब्दुल्ला तथा उसकी सेना को तलवार के घाट

उतार दिया। जब तक बादशाही दरबार तक खबर पहुँचे-पहुँचे राणा का केसरिया झण्डा दूर किलों पर लहरा रहा था। साल भर भी न गुज़रा था कि उसने अपने हाथ से गया हुआ राज्य लौटा लिया। केवल चित्तौड़, अजमेर और गढ़मण्डल पर कब्जा न हो सका। इसी हल्ले में उसने मानसिंह का भी थोड़ा मान-मर्दन कर दिया। अकबर पर चढ़ दौड़ा और वहाँ की मशहूर मण्डी भालपुरा को लूट लिया।

मन में प्रश्न उठता है कि अकबर ने राणा को क्यों इतमीनान से बैठने दिया। उसकी शक्ति अब पहले से बहुत अधिक हो गई थी, उसके साम्राज्य की सीमाएँ दिन-दिन अधिक विस्तृत होती जाती थीं। जिधर रुख करता, उधर ही विजय हाथ बाँधे खड़ी रहती। सरदारों में एक से एक प्रौढ़ अनुभववाले रण-कुशल योद्धा विद्यमान थे। ऐसी अवस्थामें वह राणा की इन ज्यादतियों को क्यों चुपचाप देखता रहा? शायद इसका कारण यह हो कि वह उन दिनों दूसरे देश जीतने में उलझा हुआ था। या यह कि अपने दरबार को राणा से सहानुभूति रखनेवाला पाकर उसे फिर छेड़ने की हिम्मत न हुई हो। जो हो, उसने निश्चय कर लिया कि राणा को उन पहाड़ियों में चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय। पर साथ ही निगाह रखी कि वह मैदान की ओर न बढ़ सके। राणा की जगह कोई और आदमी होता तो इस शांति और आराम को हज़ार गनीमत समझता और इतने कष्ट झेलने के बाद इस विश्रांति-लाभ को ईश्वरीय सहायता समझता। पर महत्त्वाकांक्षी राणा को चैन कहाँ। जब तक वह अकबर से लोहा ले रहा था, जब तक अकबर की सेना उसकी खोज में जंगल-पहाड़ से सिर टकराती फिरती थी, तब तक राणा के हृदय को सन्तोष न था। जब तक यह चिन्ता अकबर के प्राणों को जला रही थी, तब तक राणा के दिल में ठंढक थी। वह सच्चा राजपूत था। शत्रु के क्रोध, कोप, घृणा यहाँ तक तिरस्कार भाव को भी सहन कर सकता था, पर उसका दिल

भी इसको बर्दाश्त न कर सकता था कि कोई उसे दया-दृष्टि से देखे या उस पर तर्स खाय। उसका स्वाभिमानी हृदय कभी इसे सहन न कर सकता था।

जो हृदय अपनी जाति की स्वाधीनता पर बिका हो उसे एक पहाड़ी में बंद रहकर राज्य करने से क्या संतोष हो सकता था। वह कभी-कभी पहाड़ियों से बाहर निकलकर उदयपुर और चित्तौड़ की ओर आकांक्षा भरी दृष्टि से देखता कि हाय, अब यह फिर मेरे अधिकार में न आयेंगे! क्या यह पहाड़ियाँ ही मेरी आशाओं की सीमा है! अकसर वह अकेले और पैदल ही चल देता और पहाड़ के दर्रों में घंटों बैठकर सोचा करता। उसके हृदय में उस समय स्वाधीनता की उमंग का समुद्र ठाठें मारने लगता, आखें सुर्ख़ हो जातीं, रगें फड़कने लगतीं, कल्पना की दृष्टि से वह शत्रु को आते देखता और फिर अपना तेगा सँभालकर लड़ने को तैयार हो जाता। हाँ, मैं वाप्पा रावल का वंशधर हूँ। राणा, सांगा मेरा दादा था, मैं उसका पोता हूँ। वीर जगमल मेरा एक सरदार था। देखो तो मैं यह केसरिया झंडा कहाँ कहाँ गाड़ता हूँ! पृथ्वीराज के सिंहासन पर न गाड़ूँ तो मेरा जीना अकारथ है।

यह विचार, यह मंसूबे, यह जोशे-आज़ादी, यह अन्तर्ज्वार सदा उसके प्राणों को जलाती रही। और अन्त में इसी अंतर की आग ने उसे समय से पहले ही मृत्यु-शय्या पर सुला दिया। उसके गैंडे के-से बलिष्ठ अंग-प्रत्यंग, और सिंह का-सा निडर हृदय भी इस अग्नि की जलन को अधिक दिन सह न सके। अंतिम क्षण तक देश और जाति की स्वाधीनता का ध्यान उसे बँधा रहा। उसके सरदार जिन्होंने उसके साथ बहुत-से अच्छे-बुरे दिन देखे थे, उसकी चारपाई के इर्द-गिर्द शोक में डूबे और आँखों में आँसू भरे खड़े थे। राणा की टकटकी दीवार की ओर लगी हुई थी और कोई ख़याल उसे बेचैन करता हुआ मालूम

होता था। एक सरदार ने कहा—महाराज, राम-नाम लीजिए। राणा ने मृत्यु-यन्त्रणा से कराहकर कहा—'मेरी आत्मा को तब चैन होगा कि तुम लोग अपनी-अपनी तलवारें हाथ में लेकर कसम खाओ कि हमारा यह प्यारा देश तुर्कों के कब्जे में न जायगा। तुम्हारी रगों में जब तक एक बूँद भी रक्त रहेगा, तुम उसे तुर्कों से बचाते रहोगे। और बेटा अमरसिंह, तुमसे विशेष विनती है कि अपने बाप-दादों के नाम पर धब्बा न लगाना और स्वाधीनता को सदा प्राण से अधिक प्रिय मानते रहना। मुझे डर है कि कहीं विलासिता और सुख की कामना तुम्हारे हृदयों को अपने वश में न कर ले और तुम मेवाड़ की उस स्वाधीनता को हाथ से दे दो, जिसके लिए मेवाड़ के वीरों ने अपना रक्त बहाया है।' सम्पूर्ण उपस्थित सरदारों ने एक स्वर से शपथ की कि जब तक हमारे दम में दम है, हम मेवाड़ की स्वाधीनता को कुदृष्टि से बचाते रहेंगे। प्रताप को इतमीनान हो गया और सरदारों को रोता-बिलखता छोड़ उसकी आत्मा ने पार्थिव चोले को त्याग दिया। मानो मौत ने उसे अपने सरदारों से यह कसम लेने की मुहलत दे रखी थी।

इस प्रकार उस सिंह विक्रम राजपूत के जीवन का अवसान हुआ जिसकी विजयों की गाथाएँ और विपता की कहानियाँ मेवाड़ के बच्चे-बच्चे की जबान पर हैं। जो इस योग्य है कि उसके नाम के मंदिर गाँव-गाँव, नगर-नगर में निर्माण किये जायँ और उनमें स्वाधीनता देवी की प्रतिष्ठा तथा पूजा की जाय। लोग जब उन मंदिरों में जायँ तो स्वाधीनता का नाम लेते हुए जायँ। और इस राजपूत की जीवन-कथा से सच्ची आज़ादी का सबक सीखें।

रणजीतसिंह

भारत के पुराने शासकों में शायद ही कोई ऐसा होगा जिस पर यूरोपीय ऐतिहासिकों और अन्वेषकों ने इतने विस्तार के साथ आलोचना की हो, जितना पंजाब के महाराज रणजीतसिंह पर। उनके चरित्र और स्वभाव, उनकी न्यायशीलता, उनके शौर्य और पराक्रम, उनकी प्रबन्ध-पटुता, उनके उत्साहपूर्ण आतिथ्य-सत्कार और अन्य गुणों तथा विशेषताओं के सम्बन्ध में प्रतिदिन इतनी वार्ताएँ प्रसिद्ध होती थीं कि यूरोप के मनचले ग्रंथकारों और पर्यटकों के मन में अपने-आप यह उत्सुकता उत्पन्न हो जाती थी कि चलकर ऐसे विलक्षण और गुण-गरिष्ठ व्यक्ति को देखना चाहिए। और उनमें से जो आता, वह महाराज के सुन्दर गुणों की ऐसी गहरी छाप दिल पर लेकर जाता जो उनकी सराहना में दफ़्तर के दफ़्तर रँग डालने पर भी तृप्त न होती थी। सिराजुद्दौला, मीर जाफ़र और अवध के नवाबों का हाल पढ़-पढ़कर यूरोप में आम ख़याल हो गया था कि भारत में यह योग्यता ही नहीं रही कि ऊँचे दरजे के राजनीतिज्ञ और शासक उत्पन्न कर सके। अधिक से अधिक वहाँ कभी-कभी लुटेरे सिपाही निकल खड़े होते हैं और बस। पर महाराज रणजीतसिंह के व्यक्तित्व ने इस धारणा का बड़े ज़ोर के साथ खण्डन कर दिया, और यूरोपवालों को दिखा दिया कि विभूतियों को उत्पन्न करना किसी विशेष देश या जाति का विशेषाधिकार नहीं है, किन्तु ऐसे महिमाशाली पुरुष प्रत्येक जाति और प्रत्येक काल में उत्पन्न होते रहते हैं। और यद्यपि रणजीतसिंह के अनेक चरित्र-लेखकों पर इस सामान्य कुधारणा

का असर बना है और उनके चरित्र का अध्ययन करने में वह इस भावना को अलग नहीं रख सके, फिर भी महाराज की अपनी खास खूबियों ने जो कुछ बरबस उनकी लेखनी से लिखवा लिया, वह इस बात को प्रमाणित कर देता है कि १८वीं शताब्दी में नेपोलियन बोनापार्ट को छोड़कर कोई दूसरा ऐसा मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ। बल्कि उस परिस्थिति को देखते हुए जिसके भीतर रणजीतसिंह को काम करना पड़ा, कह सकते हैं कि शायद नेपोलियन में भी वह योग्यताएँ न थीं जो महाराज से व्यक्ति में एकत्र हो गई थीं। फ्रांस स्वाधीन देश था और वहाँ के दार्शनिकों ने जनसाधारण में प्रजातन्त्र के विचार फैला दिये थे। नेपोलियन को अधिक से अधिक इतना ही करना पड़ा कि मौजूद और तैयार मसाले को इकट्ठा कर उससे एक इमारत खड़ी कर ली। इसके विपरीत भारत कई सौ साल से पीसा-कुचला जा रहा था, और रणजीतसिंह को उनसे निबटना पड़ा जो लम्बे अरसे तक भारत के भाग्य-विधाता रह चुके थे। निस्सन्देह, सेनापति रूप में नेपोलियन का पद ऊँचा है, पर शासन-प्रबन्ध की योग्यता में महाराज रणजीतसिंह उससे बहुत आगे बढ़े हुए हैं। यद्यपि उनका स्थापित किया हुआ राज्य उनके बाद अधिक दिन टिक न सका। पर इसमें स्वयं उनका कोई दोष नहीं। इसकी जिम्मेदार वह आपस की वैर और फूट है जिसने सदा इस देश की दुर्दशा कराई और जिसे महाराज रणजीतसिंह भी दिलों से दूर कराने में सफल न हो सके।

रणजीतसिंह के जन्म और बचपन का समय भारत में बड़ी हलचल और परिवर्तन का काल था। वह सिख-जाति जो गुरु गोविन्दसिंह के दिलो-दिमाग से उपजी थी और कई शहीदों ने जिसे अपने बहुमूल्य रक्त से सींचकर जवान किया था, साहस और वीरत्व के मैदान में अपनी पताका फहरा चुकी थी। सन् १७९२ ई० से जब सिखों ने सरहिंद का किला जीता और जिसे अहमदशाह

अब्दाली भी उनसे न छीन सका। सिखों का बल-प्रभाव वृद्धि पर था। पर यह जातीय भाव, जो कुछ दिनों के लिए उनके हृदयों में तरंगित हो उठा था, विदा हो चुका था। दलबन्दी का बाजार गरम था और कितनी ही मिसलें कायम हो गई थीं, जिनमें दिन-रात मार-काट मची रहती थी। जिस विशेष लक्ष्य को लेकर सिख जाति उत्पन्न हुई थी, वह यद्यपि कुछ अंशों में पूरा हो चुका था। पर उसकी पूर्ण सिद्धि को पहले ही ख़ुद उन्हीं में फूट फैलाने-वाली ताकतों ने ज़ोर पकड़ लिया और मुख्य उद्देश्य उपेक्षित हो गया। १८ वीं शताब्दी के अन्त में मुल्क की हालत बहुत नाज़ुक हो रही थी। निरंकुशता और उच्छृङ्खलता का राज था। जिस किसी ने कुछ लुटेरे सिपाहियों को जमा कर एक दल बना लिया, वह अपने किसी कमज़ोर पड़ोसी को दबाकर अपनी चार दिन की हुकूमत कायम कर लेता था, और कुछ दिन बाद उसे भी किसी अधिक बलवान व्यक्ति के लिए जगह ख़ाली करनी पड़ती थी। न कोई क़ानून था, न कोई सुव्यवस्थित शासन। शांति और लोकरक्षा अनाथ बच्चों की भाँति आश्रय ढूँढ़ती फिरती थीं। हर गाँव का राजा जुदा, क़ानून जुदा और दुनिया जुदी थी। भाई-चारा सिख-वंश की एक प्रमुख विशेषता है। और केवल वही क्या सभी धर्मों मजहबों में मानव-बन्धुत्व की शिक्षा विद्यमान है। यह शिक्षा उच्च और पवित्र है। किसी आदमी को क्या हक़ है कि दूसरों को अपना अधीन बनाकर रखे और उनके अस्तित्व से ख़ुद फ़ायदा उठाये ? संसार के सुखों में हर आदमी का हिस्सा बराबर है। सिख जाति ने जब तक इस भाव का आदर किया, इसे बरता और इसका अनुसरण किया, तब तक उसका बल बढ़ता गया। पर जब अहंकार और स्वार्थ-परता, लोभ और दंभ ने सिखों के दिलों में घर कर लिया, धन और अधिकार की चाट पड़ी, तो भाई-चारे के भाव को गहरा धक्का पहुँचा, जिसका फल यह हुआ कि राज्यों की स्थापना हो गई और भाई-भाई में

मार-काट मचने लगी। गुरु गोविन्दसिंह ने भाई-चारे का जोश पैदा किया। पर उस पारस्परिक सहानुभूति का बल न उत्पन्न कर सके जो भाई-चारे के कवच का काम करता है।

रणजीतसिंह का जन्म सन् १७८० ई० में गुजरानवाला स्थान में हुआ। आम ख़याल है कि उनके पिता एक ग़रीब ज़मींदार थे, पर यह ठीक नहीं है। उनके पिता सरदार महानसिंह सकर चकिया मिसिल के सरदार और बड़े प्रभावशाली पुरुष थे। पर २७ ही वर्ष की अवस्था में स्वर्ग सिधार गये। रणजीतसिंह उस समय कुल जमा १० साल के थे और इसी उम्र में उनके सिर पर भयावह ज़िम्मेदारियों का बोझ आ पड़ा। परन्तु अकबर की तरह वह भी प्रबन्ध और संघटन की योग्यता मा के पेट से लेकर निकले थे, और इस दश वर्ष की वय में ही कई लड़ाइयों में अपने पिता के साथ रह चुके थे। एक दिन एक भयानक युद्ध में वह बाल-बाल बचे। मानो उनका शैशव रणक्षेत्र में ही बीता और युद्ध के विद्यालय में ही उन्होंने शिक्षा पाई। ८-१० साल का बच्चा, उसकी आँखों से नित्य मार-काट के दृश्य गुज़रते होंगे। कुटुम्ब के बड़े बूढ़ों को चौपाल में बैठकर किसी पड़ोसी सरदार पर हमला करने के मंसूबे बाँधते या किसी बलवान सरदार के आक्रमण से बचाव के उपाय सोचते देखना होगा और यह अनुभव उसके कोमल संस्कारग्राही चित्त पर क्या कुछ छाप न छोड़ जाते होंगे! परवर्ती घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि यह अल्पवयस्क बालक तीक्ष्णबुद्धि और प्रतिभावान था, और जो शिक्षाएँ उसे मिलीं, उसके जीवन का अङ्ग बन गईं। उसने जो कुछ देखा, शिक्षा ग्रहण करनेवाली दृष्टि से देखा। १२ वर्ष की अवस्था में वह सकर चकिया मिसिल के सरदार करार दिये गये और २० वें साल में कुछ अपनी बहादुरी और कुछ जोड़-तोड़बाज़ी से लाहौर का राजा बन बैठा। इसका वृत्तान्त मनोरञ्जक है। सन् १७९८ ई० में अहमद-

शाह अब्दाली का पोता अपने दादा के जीते हुए प्रदेशों पर अधिकार-स्थापन के इरादे से हिन्दुस्तान पर चढ़ा और लाहौर तक चला आया। उसका विचार था कि टिककर सम्बद्ध स्थानों से ख़िराज वसूल करे। पर इसी बीच उसे स्वदेश में विप्लव की ख़बर मिली। घबराकर लौटा। झेलम बाढ़ पर थी, बारबरदारी का इन्तज़ाम ख़राब। उसकी कई तोपें उसके साथ न जा सकीं। संयोगवश रणजीतसिंह वहीं पास में ही थे। शाह ज़मां से मिले तो उसने कहा—अगर तुम मेरी तोपें फ़ारस भिजवा दो तो इसके बदले में तुम्हें लाहौर दे दूँ। रणजीतसिंह ने यह शर्त बड़ी ख़ुशी से मंजूर कर ली। यद्यपि शाहज़मां का यह वादा कोई अर्थ न रखता था और रणजीतसिंह स्वयं शक्तिशाली न होते तो उससे कुछ भी लाभ न उठा सकते। पर उनके निजी बल और प्रभाव पर इस प्रतिज्ञा पर दुहरी चाशनी चढ़ गयी। इसके थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने अमृतसर पर भी कब्जा कर लिया और अब उनकी शक्ति और दबदबे के आगे सब मिसलें धूमिल पड़ गईं।

यूरोपीय वृत्त-लेखकों ने रणजीतसिंह पर स्वार्थपरता, विश्वास-घात, निर्दयता, बेवफ़ाई आदि के दोष लगाये हैं और उनके फ़तवे किसी हद तक सही भी हैं। राजनीति में पुराने आचार्यों ने भी थोड़ी-बहुत चालबाज़ी और कठोरता की इजाज़त दी है, जिसे दूसरे शब्दों में बेवफ़ाई और बेरहमी कह सकते हैं। इन उपायों के बिना राज्य का नवरोपित बिरवा कभी जड़ नहीं पकड़ सकता। रही स्वार्थपरता की बात, सो यह दोष हर आदमी पर सामान्यतः और हर एक राजा पर विशेषतः घटित हो सकता है। आज तक किसी जाति में कोई ऐसा बादशाह नहीं हुआ जिसने किसी जाति पर केवल सदुद्देश्य, मानव-हित या परोप-कार की भावना से राज्य किया हो, बल्कि हमें तो इसके मानने में भी हिचक है कि यह नेकनीयती स्वार्थ को दबाये हुए थी। स्वार्थ शासन के मूल में ही बैठा हुआ है। यह भी ध्यान रहे कि

रणजीतसिंह के वचन, व्यवहार और राजनीति को आज की नैतिक कसौटी पर कसना न्याय नहीं है। रणजीतसिंह ने लाहौरी दरबार की रंग-भूमि पर जब अपना अभिनय किया था उसको सौ साल का ज़माना बीत चुका और इन सौ वर्षों में सभ्यता, सदाचार और सामाजिक जीवन के आदर्श बहुत आगे निकल गये हैं। नीति और सदाचार का मान-दण्ड प्रत्येक युग में बदलता रहता है। जो काम आज से १०० साल पहले जायज़ समझा जाता था, आज अविहित है, और संभव है कि बहुत-सी बातें जिन्हें आज हम बे-झिझक करते हैं, १०० साल बाद लज्जा-जनक समझी जाने लगें। सौ साल का ज़माना तो बहुत होता है, अभी २५ साल से अधिक नहीं बीते जब होली के दिनों में हर शहर के विलास-प्रिय रईसों की मण्डलियों के साथ नशे में झूमते हुए गलियों की सैर करते देखना साधारण बात थी; पर अब यह लज्जा-जनक समझा जाता है। बल्कि कोई भला आदमी आज शराब पीकर पब्लिक में निकलने की हिम्मत न करेगा। इन बातों को ध्यान में रखते हुए अगर हम रणजीतसिंह के आचरणों को जाँचें, परखें तो हम निश्चय ही इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि शासक के मान-दण्ड से देखते हुए उनसे बहुत कम ऐसे कर्म हुए हैं जिन पर उन्हें लज्जित होना पड़े। पर हाँ, इस मान-दण्ड की शर्त है।

महाराज रणजीतसिंह बड़े ही स्थिरचित्त, परिश्रमी और परिणाम-दर्शी व्यक्ति थे। उनकी हिम्मत ने हारना सीखा ही न था। श्रमशीलता और कष्ट-सहिष्णुता का यह हाल था कि अकसर दिन का दिन घोड़े की पीठ पर ही बीत जाता। सूझ-बूझ उनकी ज़बर्दस्त थी। पुस्तकी विद्या से बिलकुल कोरे थे। पर विद्वानों के साथ वार्तालाप और पर्यवेक्षण के द्वारा अपनी जानकारी इतनी बढ़ा ली थी कि यूरोपीय यात्रियों को उनकी बहुश्रुतता पर आश्चर्य होता था। साहस तो उनका स्वभाव ही था। साह-

सिक कार्यों के, ख़ासकर साहस भरी यात्राओं के वृत्तान्त बड़ी रुचि से सुनते थे। यूरोप की नई खोजों और आविष्कारों का पता रखने को उत्सुक रहते थे। उनका पहनावा बहुत सादा और बनावट से ख़ाली होता था। और यद्यपि देखने में सुन्दर न थे, बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि कुरूप थे, और डील-डौल के विचार से भी कुछ अधिक भाग्यशील न थे। पर उनके गुणों ने इन बाह्य दोषों को छिपा लिया था। चेहरे पर चेचक के भद्दे दाग़ थे, और एक आँख भी उसकी नज़र हो चुकी थी, फिर भी मुख-मण्डल पर एक तेज बरसा करता था। फ़क़ीर अजीज़ुद्दीन लाहौर दरबार में परराष्ट्र-सचिव के पद पर नियुक्त थे। एक बार दूत रूप से लार्ड बैंटिंग के पास गये थे। बात-चीत के सिलसिले में लार्ड बैंटिंग पूछ बैठे कि महाराज की कौन सी आँख जाती रही है। अजीज़ुद्दीन ने इसके जवाब में कहा—'जनाब! मेरे प्रतापी स्वामी के चेहरे पर वह तेज है कि हममें से किसी को इतना साहस ही न हुआ कि उनकी ओर आँख उठा सकें।' उत्तर यद्यपि अतिरंजना से रहित न था, फिर भी उससे रणजीतसिंह के उस रोब का पता चलता है जो दरबारवालों के दिलों पर छाया हुआ था।

रणजीतसिंह जन्म-सिद्ध शासक थे। उनमें कोई ऐसा गुण, कोई ऐसी शक्ति, कोई ऐसा आकर्षण था जो बड़े-बड़े हेकड़ों और अहम्मन्यों को भी उनकी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य कर देता था। आदमियों को परखने की उनमें ज़बर्दस्त योग्यता थी और उनकी सफलता का बहुत कड़ा कारण उनका यही गुण था। कौन आदमी किस काम को औरों से अच्छी तरह कर सकता है, इसका निर्णय करना आसान बात नहीं है। शाहजहाँ, जहाँगीर, औरंगजेब बड़े-बड़े बादशाह थे; पर उनके राजत्व में आये दिन बग़ावतें और साजिशें होती रहती थीं, और सूबेदारों को दबाने के लिए अक्सर दिल्ली से फ़ौजें रवाना करनी पड़ती

थीं। रणजीतसिंह के राज्य-काल में ऐसी घटनाएँ क्वचित् ही होती थीं। उस उथल-पुथल के ज़माने में भी उनके कर्मचारी कितनी सचाई से काम करते थे यह देखकर आश्चर्य होता है। महाराज धर्मगत निष्पक्षता के सजीव उदाहरण थे, ख़ासकर राज-कर्मचारियों के चुनाव में इस राग-द्वेष को ज़रा भी दख़ल न देने देते थे। इस नीति में वह अकबर से भी बढ़े हुए थे। सिखों को मुसलमानों से कोई लाभ न पहुँचा था, बल्कि उलटा उन्होंने सिखों का अस्तित्व मिटा देने में कोई यत्न नहीं उठा रखा था, पर रणजीतसिंह इस संकीर्णता से सर्वथा मुक्त थे। उनके दरबार में कई प्रमुख पदों पर मुसलमान नियुक्त थे। फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन, नूरुद्दीन, इमामुद्दीन सब के सब ऊँचे पदों पर थे। ब्राह्मण, खत्री, राजपूत हर एक जाति से उन्होंने राज्य-प्रबन्ध में सहायता ली। जहाँ भी उन्हें गुण दिखाई दिया उसकी क़द्र की। राजा दीनानाथ, दीवान मुहकमचन्द, रामपाल मिश्र, दीवान सावँल-मल, लाहौर दरबार के स्तम्भों में थे और बड़े बड़े महत्त्व के कार्यों पर नियुक्त थे। रणजीतसिंह की सूक्ष्मदर्शी दृष्टि ने ताड़ लिया था कि अगर न्याय और क्षेम-कुशल की नीति से राज्य करना है तो उन जातियों की सहायता के बिना काम नहीं चलेगा जो बहुत दिनों से राज्य-कार्य में भाग लेती आई हैं। सिखों ने इस समय तक युद्ध-क्षेत्र के सिवा शासन-प्रबंध में अपनी योग्यता का परिचय नहीं दिया था। अतः सैनिक पद अधिकतर सिखों के हाथ में थे। दीवानी और माल के पद मुसलमानों, ब्राह्मणों, खत्रियों और कायस्थों के हाथ में थे, पर फ़ौजी चढ़ाइयों में सेनापति अक्सर उपयुक्त अधिकारी ही बनाये जाते थे। उस समय से अब तक इस निष्पक्षता को निभाना सिख राजाओं ने अपना सिद्धान्त बना रखा है, ख़ासकर नाभा, पटियाला, कपूरथला और झींद में, जो सिखों की सबसे बड़ी रियासतें हैं, यह उदार विचार विशेष रूप से दिखाई देता है। हाँ, इसलामी रियासतों में

स्थिति इसकी उलटी है। हैदराबाद को छोड़कर जहाँ एक हिन्दू सज्जन मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हैं, और शायद कोई ऐसी रियासत नहीं जहाँ इस धर्म-गत उदारता से काम लिया जाता हो। हिन्दुओं को कट्टर और अनुदार कहना सहज है, पर वस्तु-स्थिति इसकी उलटी है। अभी हाल में ही महाराज जयपुर ने एक मुसलमान सज्जन को दीवान बनाया है। क्या यह हिन्दुओं की संकीर्णता है?

उस ज़माने में अकसर अदूरदर्शी नरेशों की यह रीति थी कि शत्रु पर विजय पाने के बाद उसे मटियामेट कर देते या ऐसा कठोर व्यवहार करते कि उसके हृदय में प्रतिहिंसा और द्वेष की आग भड़कती रहती थी। पर रणजीतसिंह की नीति इस विषय में मनुष्यता और भद्रता की नीति थी, जो यद्यपि आज की रीति-नीति के अनुसार साधारण व्यवहार है, पर उस तूफ़ानी ज़माने का ख़याल करते हुए अति असाधारण बात थी। रणजीत-सिंह शत्रु पर विजय पाने के बाद उसके साथ ऐसे सौजन्य और शिष्टता का व्यवहार करते कि वह उनकी दोस्ती का दम भरने लगता। कठोरता के बदले वह उसे सौजन्य और अनुग्रह की साँकल में बाँधते थे। कई बार घेरा डालने के बाद मुलतान पर उनका कब्ज़ा हुआ और नवाब मुजफ़्फ़र खाँ अपने पाँच बेटों तथा तीन सौ स्वजनों के साथ किले के दरवाज़े पर मारा गया, तो उन्होंने नवाब के दो बाकी लड़कों को दरबार में बुला लिया और उनके वज़ीफ़े मुक़र्रर कर दिये। इसी तरह मुहम्मद यार खाँ तिवाना और दूसरे पराजित सरदारों के साथ भी उन्होंने भल-मनसी का बरताव कायम रखा। ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि शत्रु को जीतने के बाद उन्होंने उसे ज़िंदा दीवार में चुनवा दिया हो, खुलेआम शिरच्छेद करा दिया हो या उसपर बुग्ज़ का बुख़ार निकाला हो। अकसर उन्हीं पराजित शत्रुओं पर उनका अनुग्रह होता था, जिन्होंने मर्दानगी से उनका मुक़ाबला किया

हो। वह स्वयं वीर पुरुष थे और वीरता का आदर करते थे। जोधसिंह वजीराबाद का एक सिख सरदार था। किसी कारण महाराज उस पर नाराज़ हुए और उसे दण्ड देना चाहा। पर इसके लिए सेना भेजी जाय, यह पसन्द न करते थे। अतः उसे बहाने से दरबार में बुलाया और गिरफ़्तार कराना चाहा। जोधसिंह ने तुरत तलवार खींच ली और मरने-मारने को तैयार हो गया। महाराज उसकी मर्दानगी पर इतने ख़ुश हुए कि उसी जगह उसका प्रेमालिंगन किया, और जब तक वह ज़िन्दा रहा उसे मानते रहे।

रणजीतसिंह के पहले सिख-सेना अधिकतर सवारों की होती थी, पैदल तिरस्कार की दृष्टि से देखे जाते थे। इसके विरुद्ध यूरोप में पैदल सेना ही युद्ध का आधार होती थी और है। अँग्रेज़ी पैदल सेना अनेक बार हिन्दुस्तानी घोड़े सवारों के पैर उखाड़ चुकी थी। यह देखकर महाराज ने भी अपनी सेना की काया-पलट कर दी। सवारों के बदले पैदल सेना का संघटन आरम्भ किया और इस कार्य के लिए फ्रांस और इटली के कई अनुभवी जनरलों को नियुक्त किया जिनमें से कई नेपोलियन बोनापार्ट के तिलिस्मी युद्धों में शरीक रह चुके थे। जेनरल वंचूरा उनमें सबसे अधिक कुशल था। इन सेना-नायकों के शिक्षण ने सिख पैदल सेना को यूरोप की अच्छी से अच्छी सेना को ललकारने लायक़ बना दिया था। पंजाब के चुने हुए जवान प्यादों में भरती किये जाते थे और महाराज की यह कोशिश रहती थी कि सेना का यह विभाग अधिक लोक-प्रिय हो जाय। सिख पैदल सेना को परिश्रम और कष्ट सहन का इतना अभ्यास था कि महीनों तक लगातार रोज़ २० मील की मंज़िलें मार सकती थी। महाराज की सम्पूर्ण सेना क़रीब एक लाख थी, और जागीर-दारों की मिलाकर सवा लाख।

रणजीतसिंह के राज्य में पंजाब ख़ास, सतलज और सिंध के

बीच का प्रदेश, काश्मीर, मुलतान, डेराजान, पेशावर और सर-हदी जिले शामिल थे। यद्यपि राज्य अधिक विस्तृत न था, पर उसमें हिन्दुस्तान के वह हिस्से शामिल थे जो प्राकृतिक अवस्था की दृष्टि से दुर्गम हैं और जहाँ लड़ाके, साहसी, किसी की अधीनता न जाननेवाले और धोखेबाज़ लोग बसते हैं। भारत के सम्राटों के लिए यह भू-भाग सदा परेशानियों और कठिनाइयों का भंडार साबित हुआ है। मुग़ल बादशाहों के समय अकसर वहाँ फ़ौज भेजनी पड़ती थी, और यह चढ़ाइयाँ परिणाम की दृष्टि से तो नगण्य होती थीं, पर ख़र्च और रक्तपात के विचार से बहुत ही महत्त्व-पूर्ण होती थीं। यह प्रदेश जाहिल और कट्टर मुसलमान जातियों से आबाद हैं जो शिक्षा और सभ्यता से बिलकुल कोरे हैं और जिनके जीवन का उद्देश्य केवल चोरी, डाका और लूट है। और यद्यपि यह भू-खण्ड पचास साल से अँग्रेजी राज्य की मंगलमयी छाया के नीचे है, फिर भी अज्ञान और अन्धकार के उसी गहरे गढ़े में गिरा हुआ है। यह लोग जब मौक़ा पाते हैं, सरहद के हिन्दुओं को और वह न मिले तो मुसलमानों पर ही अपनी बर्बरता चरितार्थ कर लेते हैं। रणजीतसिंह को इन जातियों से बहुत नुकसान उठाने पड़े। तजरबेकार अफ़सर और चुनी हुई पलटनें अक्सर इन्हीं सरहदी झगड़ों की नज़र हो जाया करती थीं। यों तो बारहों मास छेड़छाड़ होती रहती थी, पर लगान की वसूली का ज़माना दूसरे शब्दों में युद्ध-काल होता था। रणजीतसिंह को अगर दक्षिण दिशा में राज्य-विस्तार की सुविधा होती तो सम्भवतः वह इन सरहदी इलाकों की ओर ध्यान न देते। पर दक्षिण में तो ब्रिटिश सरकार ने उनके बढ़ने की हद बाँध दी थी और पटियाला, नाभा, झींद आदि सिख राज्यों को अपने प्रभाव में ले लिया था।

विद्या और ललित-कला की उन्नति की दृष्टि से रणजीतसिंह का शासन-काल उल्लेखनीय नहीं। उनकी जिन्दगी राज्य को

सुदृढ़ बनाने की कोशिशों में ही समाप्त हो गई। स्थापत्य-कला की वह स्मरणीय कृतियाँ जो अब तक मुग़ल राज्य की याद दिला रही हैं, उत्पन्न न हो सकीं, क्योंकि यह पौधे शान्ति के उद्यान में ही उगते और फलते-फूलते हैं।

रणजीतसिंह का वैयक्तिक जीवन सुन्दर और स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता। उस दुर्बलताओं में उन्होंने बहुत बड़ा हिस्सा पाया था जो उस ज़माने में शरीफ़ों और रईसों के लिए बड़प्पन की सामग्री समझी जाती थी। और जिनसे यह वर्ग आज भी विमुक्त नहीं है। उनके ९ विवाहित रानियाँ थीं और ९ रखेलियाँ थीं। लौंडियों की संख्या तो सैकड़ों तक पहुँचती थी। विवाहिता रानियाँ प्रायः प्रभावशाली सिख घरानों की बेटियाँ थीं। जिन्हें उनके बाप-भाइयों ने अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने के लिए रनिवास में पहुँचा दिया था। इस कारण वहाँ अकसर साज़िशें होती रहती थीं। मद्यपान भी उस समय सिख रईसों का एक सामान्य व्यसन था और महाराज तो ग़ज़ब के पीनेवाले थे। उनकी शराब बहुत ही तेज़ होती थी। इस अति मद्यपान के कारण ही वे कई बार लकवे के शिकार हुए और अंतिम आक्रमण सांघातिक सिद्ध हुआ। यह हमला १८३० ई० के जाड़े में हुआ और साल भर बाद जान लेकर ही गया। पर इस सांघातिक व्याधि से पीड़ित रहते हुए भी महाराज राज के आवश्यक कार्य करते रहे। उस सिंह का जिसकी गर्जना से पंजाब और अफ़गानिस्तान काँप उठते थे, सुखपाल में सवार होकर फ़ौज की क़वायद देखने के लिए जाना बड़ा ही हृदय-विदारक दृश्य था। हज़ारों आदमी उनके दर्शन के लिए सड़कों की दोनों ओर खड़े हो जाते, और उन्हें इस दशा में देखकर करुण और नैराश्य के आँसू बहाते थे। अन्त को मौत का परवाना आ पहुँचा और महाराज ने राजकुमार खड्गसिंह को बुलाकर अपना उत्तराधिकारी तथा राजा ध्यानसिंह को प्रधान मंत्री नियत किया। २५ लाख रुपया

राणा जंगबहादुर

नैपाल के राणा जंगबहादुर उन मौक़ा-महल समझनेवाले, दूरदर्शी और बुद्धिशाली व्यक्तियों में थे जो देशों और जातियों को पारस्परिक कलह और संघर्ष के गर्त से निकालकर उन्हें उन्नति के पथ पर लगा देते हैं। वह १९ वीं सदी के आरम्भ में उत्पन्न हुए। और यह वह समय था जब हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सत्ता बड़ी तेजी से फैलती जा रही थी। देहली का चिराग़ गुल हो चुका था, मराठे ब्रिटिश शक्ति का लोहा मान चुके थे और केवल पंजाब का वह भाग जो महाराज रणजीतसिंह के अधिकार में था, उसके प्रभाव से बचा था। नैपाल भी अंग्रेज़ी तलवार का मज़ा चख चुका था और सुगौली की सन्धि के अनुसार अपने राज्य का एक भाग अंग्रेज़ी सरकार के नज़र कर चुका था। वही भाग जो अब कुमायूँ की कमिश्नरी कहलाता है। ऐसे नाज़ुक वक्त में जब देशी राज्य कुछ तो गृह-युद्धों और कुछ अपनी कमज़ोरियों के शिकार होते जाते थे, नैपाल की भी वही गति होती, क्योंकि उस समय वहाँ की भीतरी अवस्था कुछ ऐसी ही थी जैसी देहली की सैयद-बन्धुओं के समय में या पंजाब की रणजीतसिंह के निधन के बाद हुई थी। पर राणा जंगबहादुर ने इस नाज़ुक घड़ी में नैपाल के शासन-प्रबन्ध की बागडोर अपने हाथ में ली और गृह-कलह तथा प्रबन्ध-दोषों को मिटाकर सुव्यवस्थित शासन स्थापित किया। इसमें सन्देह नहीं कि इस काम में वह सदा न्याय और सत्य पर नहीं रह सके। अकसर उन्हें चालबाज़ियों, साजिशों यहाँ तक कि गुप्त हत्याओं तक का सहारा लेना पड़ता था,

पर संभवतः उस परिस्थिति में वही नीति उपयुक्त थी। नैपाल की अवस्था उस समय ऐसी हो गई थी जब मानवता, सहनशीलता अथवा क्षमा दुर्बलता मानी जाती है। और जब भय और त्रास ही एक मात्र ऐसा साधन रह जाता है जो उत्पातियों और सिर-फिरों को क़ाबू में रख सके। पंजाब के अन्तिम काल में जंग-बहादुर जैसा उपाय-कुशल और हिम्मतवाला कोई आदमी वहाँ होता तो शायद उसका अन्त इतनी आसानी से न हो सकता, जंगबहादुर को नैपाल का बिस्मार्क कह सकते हैं।

नैपाल राज्य की नींव १६ वीं शताब्दी में पड़ी। अकबर के हाथों चित्तौड़ के तबाह होने के बाद राणा वंश के कुछ लोग शान्ति की तलाश में यहाँ पहुँचे और यहाँ के कमज़ोर राजा को अपनी जगह उनके लिए ख़ाली कर देनी पड़ी। तब से वही घराना राज्यारूढ़ है, पर धीरे-धीरे स्थिति ने कुछ ऐसा रूप प्राप्त कर लिया कि राज्य के हर्ता-कर्ता प्रधान मन्त्री या 'अमात्य' हो गये। मन्त्री जो चाहते थे करते थे, राजा केवल बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र रखने का एक साधन मात्र था। मन्त्रियों के भी दो वर्ग थे—एक पांडे का, दूसरा 'थापा' और दोनों में सदा संघर्ष होता रहता था। जब पांड़े लोग अधिकारारूढ़ होते तो थापा घराने को मिटाने में कोई बात उठा न रखी जाती, और इसी प्रकार जब थापा लोग अधिकारी होते तो पाण्डे वंशवालों की जान के लाले पड़ जाते।

जंगबहादुर यों तो राजकुल के थे, पर उनकी रिश्तेदारियाँ अधिकतर थापा घराने में थीं। जब वह उस समय की प्रचलित पढ़ाई पूरी कर चुके तो उन्हें एक ऊँचा पद प्राप्त हुआ। उस समय थापा कुल अधिकारारूढ़ था और भीमसेन थापा अमात्य थे। महाराज ने मन्त्री की बढ़ती हुई शक्ति से डरकर उन्हें एक झूठे अभियोग में क़ैद कर दिया। भीमसेन ने जेलख़ाने में ही आत्महत्या कर ली। उनके मरते ही उनके कुटुम्बियों और

संबन्धियों पर आफ़त आ गई। उनका भतीजा जेनरल मोतवर-सिंह भागकर हिन्दुस्तान चला आया। जंगबहादुर और उनके पिता भी पदच्युत कर दिये गये। यह बात सन् १८३७ ई० की है। उस समय जंगबहादुर २१ साल के थे। पद का चार्ज ले लिये जाने के बाद वह भागकर बनारस आये और यहाँ दो साल तक इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहे। अन्त में जब कहीं आश्रय न दिखाई दिया तो १८३९ ई० में फिर नैपाल गये। तब-तक वहाँ थापा लोगों के विरुद्ध भड़की हुई क्रोधाग्नि ठंढी हो चुकी थी और जङ्गबहादुर को किसी ने रोक-टोक न की। यहाँ उन्हें अपना शौर्य-साहस दिखाने के कुछ ऐसे मौक़े मिले कि महाराज ने प्रसन्न होकर उन्हें बहाल कर दिया। अबकी वह युवराज सुरेन्द्र विक्रम के मुसाहब बना दिये गये। पर जंगबहादुर के लिए यह नौकरी बहुत ही भयावह सिद्ध हुई। युवराज सुरेन्द्र विक्रम एक झक्की, कमज़ोर दिमाग़ का विक्षिप्त नवयुवक था और उसे क्रूरता के दृश्य देखने की सनक थी। अपने मुसाहबों से ऐसे-ऐसे कामों की फ़रमाइश करता कि उनकी जान पर ही आ बीतती। जंगबहादुर को भी कई बार इन जानलेवा परीक्षाओं में पड़ना पड़ा, पर हर बार वह कुछ तो अपने सैनिकोचित अभ्यास और कुछ सौभाग्य की सहायता से बच गये। एक बार उन्हें ऊँचे पुल पर से नीचे तूफ़ानी पहाड़ी नदी में कूदना पड़ा। इसी प्रकार एक बार उन्हें एक ऐसे गहरे कुएँ में कूदने का हुक्म हुआ जिसमें उन भैंसों की हड्डियाँ जमा की जाती थीं जो विशेष पर्वोत्सवों में बलि किये जाते थे। इन दोनों कठिन परीक्षाओं से अपनी मौत से खेलनेवाली हिम्मत की बदौलत उत्तीर्ण हो गये। कुशल हुई कि उन्हें इस नौकरी पर केवल एक साल रहना पड़ा। १८४१ ई० में उनके पिता की मृत्यु हुई और वह महाराज राजेन्द्र विक्रम के अंगरक्षक (बाडीगार्ड) नियुक्त हुए।

युवराज सुरेन्द्र विक्रम का क्रूरता का उन्माद दिन-दिन बढ़ता

गया। दूसरों को एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मरते देखने में उसे मज़ा आता था। यहाँ तक कि कई बार उसने अपनी ही रानियों को पालकी समेत नदी में डुबवा दिया। महाराज स्वयं दुर्बलचित्त, अदूरदर्शी, नासमझ आदमी थे। राज्य का प्रबंध बड़ी रानी किया करती थीं और उनका दबाव कुछ न कुछ युवराज को भी मानना पड़ता था। पर अक्तूबर सन् ४१ में इस बुद्धिमती रानी का स्वर्गवास हो गया। और उसकी आँख मुँदते ही नैपाल में अराजकता का युग आरम्भ हो गया। सुरेन्द्र विक्रम को अब किसी का डर-भय न रहा, दिल खोलकर अत्याचार उत्पीड़न आरम्भ कर दिया। महाराज में इसकी सामर्थ्य न थी कि इसका प्रतिबन्ध कर सकें। अधिकारी और प्रजा सब की नाक में दम हो गया। अन्त में इसकी कोशिश होने लगी कि महाराज को अपने अधिकार छोड़ देने को बाध्य किया जाय और शासन की बागडोर छोटी रानी लक्ष्मी देवी के हाथ में दे दी जाय। लक्ष्मी देवी युवराज की सौतेली माँ थीं और अपने लड़के रणविक्रम को गद्दी पर बिठाने के फेर में थीं। इसलिए राज्य-प्रबन्ध उनके हाथ में आने से यह आशा की जाती थी कि युवराज का हत्यारा-पन दूर हो जायगा। अतः दिसम्बर सन् ४२ में राज्य के प्रमुख अधिकारी और प्रजा के मुखिया जिनकी संख्या ७०० के लगभग थी, एकत्र हुए और सेना के साथ बैंड बजाते हुए महाराज की सेवा में उपस्थित होकर उनसे एक फ़रमान पत्र पर हस्ताक्षर करने का अनुरोध किया जिसके अनुसार राजकाज महारानी लक्ष्मी देवी को सौंप दिया जाता। महाराज ने पहले तो टालमटोल से काम लेना चाहा और एक महीने तक वादों पर टरकाते रहे, पर अन्त में उन्हें इस फ़रमान को स्वीकार कर लेने के सिवा कोई उपाय न दिखाई दिया।

रानी लक्ष्मी देवी पांडे लोगों से बुरा मानती थीं और थापा घराने की तरफ़दार थीं, इसलिए अधिकार पाते ही उन्होंने जेनरल

मोतवरसिंह को नैपाल बुलाया जिन्हें अंग्रेज सरकार ने शिमले में नज़रबंद कर रखा था। वह जब नैपाल पहुँचे तो बड़ी धूम से उनका स्वागत किया गया। अगवानी के लिए सेना भेजी गई जिसके साथ जंगबहादुर भी थे। मोतवरसिंह मंत्री बनाये गये और पांडे मन्त्री को जान के डर से हिन्दुस्तान भागना पड़ा। इस परिवर्तन में रानी लक्ष्मी देवी का उद्देश्य यह था कि मोतवर-सिंह को अपने लड़के रणविक्रम का समर्थक बना ले और युवराज सुरेन्द्र विक्रम को धता बताये। पर मोतवरसिंह इतना दुर्बलचित्त और सिद्धान्त-रहित व्यक्ति न था कि मंत्रित्व या एहसान के बदले में न्याय की हत्या करने को तैयार हो जाय। बड़े बेटे के रहते छोटे राजकुमार का युवराज पद पाना कुल-परम्परा के प्रतिकूल था, और यद्यपि वह महारानी को साफ़ जवाब न दे सके, पर इसका यत्न करने लगे कि सुरेन्द्र विक्रम के स्वभाव में ऐसा सुधार हो जाय जिससे महाराज को शासन-सूत्र उनके हाथ में देने में आगा-पीछा करने की कोई गुंजाइश न रहे। पर ख़ुद महाराज का ख़याल उनकी ओर से अच्छा नहीं था। धीरे-धीरे महारानी को भी मालूम हो गया कि मोतवरसिंह से कोई आशा रखना बेकार है। अतः वह भी भीतर-भीतर उनके ख़ून की प्यासी बन बैठी। बेचारे मोतवरसिंह अब कठिन समस्या में फँसे हुए थे। राजा भी दुश्मन, रानी भी दुश्मन। पर वह अपनी धुन के पक्के थे। एक ओर युवराज के शिक्षण और सुधार और दूसरी ओर महाराज को सब अधिकार दे देने को तैयार करने के यत्न में लगन के साथ लगे रहें। पर दोनों ही कठिन कार्य थे। क्रूरता जिस मनुष्य का स्वभाव बन गया हो, उसका सुधार दुस्साध्य है और महाराज जैसे अस्थिरचित्त, अदूरदर्शी और अधिकार-लोलुप व्यक्ति का हृदयपरि-वर्तन भी अनहोनी बात है; पर अन्त में उनके दोनो यत्न सफल हुए और १३ दिसंबर, सन् ४४ को महाराज ने अपने सब अधिकार युवराज को सौंप दिये। और मोतवरसिंह ने यह घोषणा पढ़कर प्रजा को सुनाई।

धीरे-धीरे मोतवरसिंह का अधिकार और प्रभाव इतना बढ़ा कि राज्य के और सरदार घबड़ाने लगे। स्वेच्छाचारिता का अधिकार के साथ चोली-दामन का सम्बन्ध है। वह यहाँ भी प्रकट हुई। मोतवरसिंह अपने सामने किसी की भी नहीं सुनते थे। जंगबहादुर उनके सगे भानजे थे, इसलिए कभी-कभी दरबार में भी उनके विरोध की हिम्मत कर बैठते थे। नतीजा यह हुआ कि मामा-भानजे में तनातनी हो गई। एक बार किसी मामले में जंगबहादुर के चचेरे भाई देवीबहादुर ने मोतवरसिंह का कसकर विरोध किया और क्रोध के आवेश में महारानी के आचरण पर भी आक्षेप कर बैठे। यह असाधारण अपराध था, इसलिए देवीबहादुर को फाँसी की सजा मिली। जंगबहादुर ने अपने भाई के प्राण-दान मिलने की सिफ़ारिश के लिए मोतवरसिंह से बड़ी अनुनय-विनय की, पर उन्होंने महारानी की आज्ञा में दख़ल देना मुनासिब न समझा। और देवीबहादुर की गरदन उतार दी गई।

रानी लक्ष्मीदेवी के आचरण पर देवीबहादुर ने जो आक्षेप किया था, वह एक प्रकट रहस्य था। ज़नाने दरबार की विशेषताओं से उनका दरबार भी रहित न था। रनिवास क्या था, परिस्तान था। सब बूढ़ी लौंड़ियाँ निकाल दी गईं और उनकी ज़गह सुन्दरी युवती स्त्रियाँ रखी गयी थीं। उनमें से अनेक महारानी की मुँह लगी थीं और राजकाज में अकसर वह उन्हीं की सलाह पर चलती थीं। इसलिए दरबार में इन लौंड़ियों का बड़ा प्रभाव था, और राज्य के छोटे-बड़े सरदार न्याय-अन्याय की ओर से आँखें मूँदकर इन परियों में से किसी एक को शीशे में उतारना कर्तव्य समझते थे। इससे उनके बड़े-बड़े काम निकलते थे। गगनसिंह नामक सरदार पर महारानी की विशेष कृपा-दृष्टि थी। यह बात सबको विदित थी। पर किसी में इतनी हिम्मत न थी कि एक शब्द मुँह से निकाल सके। रानी साहिबा अधिकतर मामलों में

गगनसिंह से ही सलाह लेती थीं। उनका उद्देश्य यह था कि उसे मंत्री पद पर प्रतिष्ठित करें। मोतबरसिंह की ओर से उनका खयाल पहले ही खराब हो गया था, उस पर से गगनसिंह ने भी मोतबरसिंह के विरुद्ध उनके कान ख़ूब भरे। यहाँ तक कि वह उनके जान की भूखी हो गईं। जंगबहादुर को गगनसिंह ने मिला लिया, और अन्त में उन्हीं के हाथों रनिवास में मोतबर-सिंह कतल किये गये। जंगबहादुरसिंह के नाम से इस काले धब्बे को छुड़ाना असम्भव है। इस लज्जाजनक और कायरता-भरे कर्म में स्वार्थ के सिवा और कोई उद्देश्य नहीं था। क्रोध, प्रति-हिंसा या राज्य का हित—यही कारण है जिनसे ऐसी हत्याओं का औचित्य दिखाया जा सकता है, पर यहाँ इनमें से एक भी विद्य-मान् न था। दूसरे को अंग्रेज़ी मुहावरे में 'ठंढे ख़ून का क़तल' कहना चाहिए। पद और अधिकार के लोभ में उन्हें अपने सगे मामा की हत्या में भी आगा-पीछा न हुआ।

मोतबरसिंह की हत्या से देश में हलचल मच गई। पर हत्या करनेवाले का पता न चल सका। इधर महारानी का उद्देश्य भी सिद्ध न हुआ। मंत्रिपद के दावेदार अकेले गगनसिंह ही नहीं और भी थे। जंगबहादुर इस समय एक सम्मानित सैनिक-पद पर आसीन थे। तीन रेजिमेंट ख़ास उन्हीं की भरती की हुई थीं जो उनके सिवा और किसी का हुक्म मानना जानती ही न थीं। उनके कई भाइयों को भी सेना में ऊँचे पद मिल गये थे।। अतः दरबार में उनका ख़ासा प्रभाव स्थापित हो गया था। इस पर मोतबरसिंह के वध का पुरस्कार उनकी दृष्टि से मंत्रित्व के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता था, फल यह हुआ कि गगनसिंह को सेना के एक पद पर ही संतोष करना पड़ा और मंत्रिपद पांडे वंश के सरदार फ़तहजंग को दिया गया। पर यह स्थिति अधिक दिन न रह सकी। गगनसिंह महाराज की आँखों में काँटे की तरह खटकता था। वह किसी तरह उसे

जहन्नुम भेजना चाहते थे। पर रानी के डर से लाचार थे। आख़िर यह जलन न सही गई और उन्हीं के इशारे से एक साजिश हुई जिसमें गगनसिंह को ख़त्म कर देने का निश्चय हुआ। और एक दिन वह अपने मकान पर ही गोली का निशाना वना दिया गया।

गगनसिंह का मारा जाना था कि दरबार में मानो प्रलय उपस्थित हो गया। लक्ष्मी देवी इस काण्ड की सूचना पाते ही रनिवास से विफरी हुई शेरनी की तरह हाथ में नंगी तलवार लिये हुए निकली और सीधे गगनसिंह के मकान पर चली गईं। प्रतिहिंसा की आग उनके हृदय में भड़क उठी। रात को फ़ौजी विगुल वजा। रानी का उद्देश्य यह था कि सब सरदारों को जमा करके उनमें हत्या करनेवाले को ढूँढ़ निकालें। जंगवहादुर ने विगुल सुनते ही दुर्घटना की आशंका पर अपनी सेना को तैयार होने का हुक्म दिया, और इसलिए सब से पहले राजमहल में पहुँच गये। उनकी सेना ने रनिवास को घेर लिया। रानी साहिवा घवराई, पर जंगवहादुर ने उन्हें आश्वासन दिया। धीरे-धीरे और सरदार भी जमा हुए और सारा आँगन उन लोगों से भर गया। रानी ने एक सरदार को हत्या का अपराधी बताकर उसके वध की आज्ञा दी। इस पर सरदारों में कानाफूँसी होने लगी। एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखता था। दूसरे सेना-नायकों ने भी अपनी सेनाओं को महल के क़रीब बुलाना चाहा। आपस में कठोर शब्दों का प्रयोग होने लगा, जंगवहादुर के एक पहरेदार ने एक सेनानायक को जो अपनी सेना से मिलने के लिए वाहर जाना चाहता था, क़तल कर दिया। फिर क्या था, मारकाट मच गई। कितने ही सरदार उसी आँगन में तलवार के घाट उतार दिये गये। प्रधान मंत्री न बच सके। अंत में जंगवहादुर की सेना ने शांति स्थापित की। और सरदार लोग अपने-अपने स्थान को वापस गये। इस गृहयुद्ध ने जंगवहादुर के लिए मैदान साफ़ कर

दिया। उनके प्रतिस्पर्द्धियों में से कोई बाक़ी न रहा। १५ सितम्बर सन् ४१ को यह काण्ड हुआ, दूसरे दिन महाराणी ने उन्हें बुलाकर प्रधान मन्त्रित्व का अधिकार सौंप दिया। इस प्रकार निविड़ अंधकार के बाद उनके भाग्य-भास्कर का उदय हुआ।

पर इस कठिन काल में यह पद जितना ही ऊँचा था, उतना ही भयावह भी था। महाराज को जंगबहादुर का प्रधान मन्त्री होना पसन्द न था। उनको संदेह था कि इस मारकाट का कारण वही है। रानी भी अपने मतलब में थीं। वह जंगबहादुर की सहायता से अपने लड़के को गद्दी पर बिठाना चाहती थीं। इधर गगनसिंह के समर्थक शुभचिन्तक भी उनकी जान के ग्राहक हो रहे थे। जंगबहादुर ने कई महीने तक रानी की आज्ञाओं का बेउज्र पालन किया। यहाँ तक कि युवराज और उनके भाई को जेल में डाल दिया। यद्यपि इसमें उनका उद्देश्य यह था कि दोनों भाई रानी के कुचक्रों से सुरक्षित रहें। रानी युवराज की हत्या कराना चाहती थीं। क्योंकि इसके बिना उनके अपने बेटे के लिए कोई आशा न थी। उन्होंने जंगबहादुर से इशारे में इसकी चर्चा भी की, पर जंगबहादुर बराबर अनजान बन रहे। इशारों से काम न चलते देख रानी ने उनके पास इस आशय का पत्र लिखा। जंगबहादुर ने उसे अपने पास रख लिया और रानी को मुँहतोड़ जवाब लिख भेजा जिसे पाकर रानी उनसे निराश ही नहीं हो गई, उनकी जान की भी दुश्मन हो गई, और उनकी हत्या का षड्यन्त्र रचने लगीं। गगनसिंह का लड़का वजीरसिंह इस काम में उनका दाहना हाथ था। साज़िश पूरी हो गयी। उसका हर एक सदस्य अपना-अपना काम पूरा करने को तैयार हो गया। आपस में क़ौल-करार भी हो गये। कसर इतनी ही थी कि जंगबहादुर रानी साहिबा के महल में बुलाये जायँ। पर ऐन मौक़े पर जंगबहादुर की ताड़नेवाली निगाह ने सारी योजना भाँप ली और भंडाफोड़ हो गया। उन्होंने तुरन्त सेना बुलाई

और उसे लिये रानी लक्ष्मी देवी के महल पर जा धमके। घातक अपनी घात में बैठे हुए थे, कि जंगबहादुर ने पहुँचकर उन्हें घेर लिया। उन्हें जान बचाने का मौक़ा भी न मिला। कितने ही वहीं तलवार के घाट उतार दिये गये। रानी साहिबा रक्त-सने हाथों सहित पकड़ ली गईं। उन पर युवराज और प्रधान मन्त्री की हत्या की साज़िश का अभियोग लगाया गया। प्रमाण प्रस्तुत ही थे, रानी को बचने का मौक़ा न मिला। मन्त्रिमण्डल के सामने यह मामला पेश हुआ और रानी को ख़ुदा के लिए नैपाल से निर्वासन का दण्ड दिया गया। उनके दोनों बेटों ने उनके साथ रहने में ही जान की ख़ैरियत समझी। जंगबहादुर ने इसमें रुकावट न की, बल्कि बड़ी उदारता के साथ रानी साहिबा के ख़र्च के लिए ख़ज़ाने से १८ लाख रुपया देकर उन्हें विदा किया। इस घटना से प्रकट होता है कि जंगबहादुर कैसे जीवट और कलेजे के राजनितिज्ञ थे और स्थिति को किस प्रकार अपने अनुकूल बना लेते थे। महारानी लक्ष्मी देवी की शक्ति और प्रभाव को दम भर में मिटा देना कोई आसान काम न था। जिस रानी के भय से सारा नैपाल थर-थर काँपता था, उसकी शक्ति को उनकी नीति-कुशलता ने देखते देखते धूल में मिला दिया।

महाराज बहुत दिनों से काशी-यात्रा की तैयारी कर रहे थे, रानी का देश-निकाला हुआ तो वह भी उनके साथ जाने को तैयार हो गये। जंगबहादुर ने बहुत समझाया कि इस समय रानी साहिबा के साथ आपका जाना उचित नहीं। आपका बुरा चाहनेवाले लोग कुछ और ही मानी निकाल सकते हैं, पर महाराज ने हठ पकड़ लिया। युवराज सुरेन्द्र विक्रम उनके उत्तराधिकारी स्वीकार किये गये। जंगबहादुर ने यह चतुराई की कि अपने कुछ विश्वासी आदमियों को महाराज के साथ कर दिया, जिसमें वह उनकी चेष्टाओं की सूचना देते रहें। महाराज जैसे अव्यव-

स्थित और अधिकार-लोलुप थे, उससे उन्हें डर था कि कहीं वह दुष्टों के बहकाने में न आ जाय। और उनकी आशंका ठीक निकली। काशी में नैपाल के कितने ही खुराफ़ाती निर्वासित सरदार रहते थे। उन्होंने महाराज को उकसाना आरंभ किया कि नैपाल पर चढ़ाई करके जंगबहादुर के शासन का अन्त कर दें। महाराज पहले तो इस जाल में न फँसे, पर दिन-रात के संग-साथ और उकसाने-भड़काने ने अन्त में अपना असर दिखाया। महाराज को विश्वास हो गया कि जंगबहादुर सचमुच युवराज के नाम पर नैपाल पर ख़ुद राज्य कर रहा है। वह जब नैपाल की ओर लौटे तो दुष्टों का एक दल जिसमें २०० से कम आदमी न थे, उनके साथ चला। नैपाल की सरहद पर पहुँचकर महाराज सोचने लगे कि अब क्या करना उचित है। महारानी से पत्र-व्यवहार हो रहा था और हमले की तैयारी जारी थी। बाग़ियों में मन्त्री, सेना-नायक, कोषाध्यक्ष सब नियुक्त हो गये। व्यवस्थित रूप से सेना की भरती होने लगी। जंगबहादुर के ख़ास आदमियों ने महाराज को बहुत समझाया कि आप इस कारस्वाई से बाज़ रहें, पर वह धुन में कब किसी की सुनते थे। मुँह पर तो यही कहते थे कि यह सब अफ़वाहें गलत हैं, पर भीतर-भीतर पूरी तैयारी कर रहे थे। उधर वहाँ की हर एक बात की सूचना प्रतिदिन जंगबहादुर को मिलती रही। उनको डर लगा कि कहीं इस उपद्रव की आग सारे नैपाल में न फैल जाय और उसका उपाय कर देना आवश्यक समझा। उन्होंने सारी सेना और सरदारों को तलब किया और महाराज की छिपी तैयारियों का पूरा हाल सुनाकर उन्हें राज्य-च्युत कर देने का प्रस्ताव उपस्थित किया। सेना ने उनको अपना अफ़सर मानने और उनकी आज्ञा पर मरने-मारने को तैयार रहने की शपथ ली। महाराज के पास पत्र भेजा गया जिसमें उन पर राज्य से बाग़ी होकर उस पर चढ़ाई करने का अभियोग लगाया गया था, और उनकी जगह युवराज के सिंहासनासीन होने की

सूचना दी गई थी। महाराज पत्र पाते ही आग हो गये, सलाह-कारों ने उसमें और घी उँडेल दिया। दो हज़ार जवान भरती हो चुके थे। उन्हें काठमांडू पर धावा करने का हुक्म दिया गया। जंगबहादुर ने कुछ रेजिमेंटें मुक़ाबले के लिए भेजीं। बाग़ी भगा दिये गये। महाराज नज़रबंद कर लिए गये और उन पर कड़ी निगरानी रखने का प्रबन्ध कर दिया गया। मन्त्रिपद पाने के दूसरे साल में जंगबहादुर इतने लोकप्रिय हो गये और प्रजा को उन पर इतना भरोसा हो गया कि स्वयं महाराज को भी उनके मुकाबले में हार खानी पड़ी।

इस संघर्ष से छुटकारा पाने के बाद जंगबहादुर ने सेना और शासन-प्रबंध के सुधारों की ओर ध्यान दिया, और प्रजा की कितनी ही पुरानी शिकायतें दूर कीं। आरम्भिक जीवन में उन्हें ख़ुद सरकारी कर्मचारियों से भुगतना पड़ा था। और साधारण कष्टों का उन्हें निजी अनुभव था। तीन-चार वर्ष के प्रधान मंत्रित्व में ही वह इतने लोकप्रिय हो गये कि लोग राजा को भूल गये और उन्हीं को अपना सब कुछ समझने लगे। ख़ासकर सैनिक तो उन पर जान देते थे। इस बीच उनसे पुरानी जलन रखनेवाले कुछ आदमियों ने उन्हें क़तल करने की साज़िश की। पर हर बार किसी न किसी प्रकार पहले से सावधान हो जाते थे। महाराज सुरेन्द्रविक्रम ने राज्य-प्रबंध के सब अधिकार उन्हीं के हाथ में दे रखे थे, और ख़ुद उसमें बहुत कम दख़ल देते थे। वही विकृत-मस्तिष्क युवराज अब बहुत ही बुद्धिमान् और न्यायशील राजा हो गया था।

जंगबहादुर अंग्रेज़ों के साहस, अवसर पहचानने की योग्यता और प्रबंध-कुशलता के बड़े प्रशंसक थे और उस देश को देखने की इच्छा रखते थे जहाँ ऐसी जाति उत्पन्न हो सकती है। अतः मार्च १८५० ई० में वह अपने कई सम्बन्धियों और विश्वासी सरदारों के साथ विलायत को रवाना हुए और इंगलैण्ड, फ्रांस

घूमते हुए १८५१ ई० में वापस आये। इंगलैण्ड में उनकी खूब आवभगत हुई और उन्हें अंग्रेज समाज को देखने-समझने का भरपूर अवसर मिला। इसमें संदेह नहीं कि वह वहाँ से प्रगतिशीलता, दृष्टि की व्यापकता और सुप्रवन्ध की वहुमूल्य शिक्षाएँ लेकर लौटे। उसी समय से अंग्रेज़ जाति के साथ नैपाल की मित्रता हुई और वह आज तक वनी है।

उनके विलायत से लौटने के थोड़े ही दिन वाद नैपाल को तिव्वत से लड़ना पड़ा और उनकी मुस्तैदी तथा प्रवंध-कुशलता से उसकी जीत पर जीत होती रही। अन्त में १८५५ में तिव्वत ने विवश होकर नैपाल से सुलह कर ली। इस संधि से नैपाल को व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त हुईं। महाराज ने ऐसे नीति-कुशल कार्यक्षम मन्त्री के साथ और गाढ़ा सम्वन्ध जोड़ने के विचार से अपनी लड़की जंगवहादुर के लड़के के साथ व्याह दी।

लगातार कई साल अविराम श्रम करते रहने के कारण जंगवहादुर का स्वास्थ्य कुछ विगड़ रहा था। इसलिए १८५६ ई० में उन्होंने प्रधान मन्त्रित्व से इस्तीफ़ा दे दिया। पर नैपाल उन्हें इतनी आसानी से छोड़ न सकता था। और देश के प्रभावशाली लोग इकट्ठा होकर उनके पास पहुँचे और इस्तीफ़ा वापस लेने का अनुरोध किया। यहाँ तक कि उन्हें महाराज के वदले गद्दी पर विठाने को भी तैयार हो गये। पर जंगवहादुर ने कहा कि जिस व्यक्ति को मैंने अपने ही हाथों राजसिंहासन पर वैठाया उससे लड़ने को किसी तरह तैयार नहीं हो सकता। महाराज ने जव उनके इस त्याग की वात सुनी तो प्रसन्न होकर दो समृद्ध ज़िले उन्हें सौंप दिये और महाराज की उपाधि भी प्रदान की। जंगवहादुर इन ज़िलों के स्वाधीन नरेश वना दिये गये और प्रधान मंत्री का पद भी वंशगत वना दिया गया। इस अनुग्रह-अनुरोध से विवश होकर जंगवहादुर आरोग्य-लाभ होते ही प्रधान मन्त्री की कुरसी पर जा विराजे।

इसी समय हिन्दुस्तान में विप्लव की आग भड़क उठी। बाग़ियों का बल बढ़ते देख तत्कालीन वायसराय लार्ड केनिंग ने जंगबहादुर से मदद माँगी। उन्होंने तुरत ही रेजीमेंटें रवाना कर दीं और थोड़े समय बाद स्वयं बड़ी सेना लेकर आये। गोरखपुर, आजमगढ़, बस्ती, गोंडा आदि में बाग़ियों के बड़े-बड़े दलों को छिन्न-भिन्न करते हुए लखनऊ पहुँचे और वहाँ से बाग़ियों को निकालने में बड़ी मुस्तैदी से अंग्रेज़ अफ़सरों की सहायता की। उनकी धाक ऐसी बैठी की बाग़ी उनका नाम सुनकर थर्रा जाते थे। इस प्रकार विप्लव का दमन करके यह नैपाल वापस गये। पर जब बाग़ियों का एक बड़ा दल आश्रय के लिए नैपाल पहुँचा तो जंगबहादुर ने उनके निर्वाह के लिए काफ़ी ज़मीन दे दी। उनकी सन्तान आज भी तराई में आबाद है।

जंगबहादुर ने सन् १८७६ ई० तक राजकाज सम्हाला और देश में अनेक सुधार किये। जमीनें का बन्दोबस्त और उत्तराधिकार विधान का संशोधन उन्हीं की बुद्धिमानी और प्रगतिशीलता के सुफल हैं। उन्हीं की सुप्रबन्ध की बदौलत फूट फसाद दूर होकर देश सुखी सम्पन्न बना। जहाँ हाकिम की मरजी ही क़ानून थी, वहाँ उन्होंने राज्य के हर विभाग को नियम और व्यवस्था से बाँध दिया।

जंगबहादुर स्थिरचित्त और नियम-निष्ठ राजनीतिक थे। इसमें संदेह नहीं कि प्रधान मंत्रित्व प्राप्त करने के पहले उन्होंने सदा सत्य और न्याय को अपनी नीति नहीं बनाया, फिर भी उनका मंत्रित्व-काल नैपाल के इतिहास का उज्ज्वल अंश है। वह राजपूत थे और राजपूती धर्म को निभाने में गर्व करते थे। सिख राज्य के ह्रास के बाद महारानी, चंद्रकुँवर चुनार के क़िले में नज़रबंद की गयीं। पर वह इस कारावास को सहन न कर सकीं और लौंडी के भेस में क़िले से निकलकर लम्बी यात्रा के कष्ट झेलते हुए किसी प्रकार नैपाल पहुँचीं। तथा जंगबहादुर के

अपने इस विपद्ग्रस्त दशा में पहुँचने की सूचना भेजी। जंगबहादुर ने प्रसन्न-चित्त से उनका स्वागत किया। २५ हज़ार रुपया उनके लिए महल बनाने के लिए और २॥ हज़ार रुपया माहवार गुज़ारा बाँध दिया। ब्रिटिश रेज़ीडेंट ने उन्हें अंग्रेज़ सरकार की नाराज़गी का भय दिलाया, पर उन्होंने साफ़ जवाब दिया कि मैं राजपूत हूँ और राजपूत शरणागत की रक्षा करना अपना धर्म समझता है। हाँ, उन्होंने यह विश्वास दिलाया कि रानी चन्द्रकुँवर अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध कोई काररवाई न करने पायेंगी। रानी चंद्र का महल वहाँ अभी तक क़ायम है।

जंगबहादुर को शिकार का बेहद शौक़ था और इसी शिकार की बदौलत एक बार मरने से बचे। उनका निशाना कभी चूकता ही न था, रण-विद्या के पूरे पण्डित थे। सिपाहियों की बहादुरी की क़द्र करते थे और इसीलिए नैपाल की सारी सेना उन पर जान देती थी।

जंगबहादुर यद्यपि उस युग में उत्पन्न हुए जब हिन्दू जाति निरर्थक रूढ़ियों की बेड़ी में जकड़ी हुई थी, पर वह स्वतन्त्र तथा प्रगतिशील विचार के व्यक्ति थे। नैपाल में एक नीच जाति के लोग बसते हैं जिन्हें कोची-मोची कहते हैं। ऊँची जातिवाले उनसे बहुत बराव-बिलगाव रखते हैं। वे कुओं से पानी नहीं भरने पाते। उनके मुखियों ने जब जंगबहादुर से फ़रियाद की तो उन्होंने एक बड़ी सभा की जिसमें उक्त जाति के लोगों को भी बुलाया, और भरी सभा में उनके हाथ का जल पीकर उन्हें सदा के लिए शुद्ध तथा सामाजिक दासत्व और अपमान से मुक्त कर दिया। भारत के शुद्धि भक्तों में कितने ऐसे हैं जो आधी शताब्दी के बीत जाने पर भी किसी अछूत के हाथ से जल ग्रहण करने का साहस कर सकें? फिर भी जंगबहादुर उस 'पश्चिमी प्रकाश' से वंचित थे, जिस पर हम शिक्षित हिन्दुओं को इतना गर्व है या इसका यह अर्थ नहीं कि वह खान-पान में भी ऐसे ही स्वाधीन थे।

इंगलैण्ड के प्रवासकाल में वह किसी दावत में खाने के लिए शरीक नहीं हुए। वह आवश्यक और अनावश्यक सुधार में भेद करना जानते थे। निडर ऐसे थे कि न्याय के प्रश्न पर स्वयं महाराज का भी विरोध करने में नहीं चूकते थे। प्रजा को राजकर्मचारियों के उत्पीड़न से बचाने का यत्न करते थे और किसी कर्मचारी को पकड़ पाते तो कड़ी सज़ा देते थे।

सारांश, उस ज़माने में राणा जंगबहादुर की दम ग़नीमत थी। ऐसे राजनीतिज्ञ हिन्दुस्तान की दूसरी रियासतों में होते तो संभव है उनमें से कुछ आज भी जीवित होतीं। पंजाब, सतारा, नागपुर, अवध, बरमा आदि इसी काल में अंग्रेज़ी राज्य में सम्मिलित हुए। संभव है कि अंग्रेज़ सरकार कुछ अधिक सहनशीलता दिखाती तो कदाचित् उनका अस्तित्व बना रहता, पर ख़ुद उन राज्यों में ऐसे नीतिज्ञ या शासक न थे, जो उन्हें इस भयानक भँवर से सही-सलामत निकालने जाते। यद्यपि सारा नैपाल जंगबहादुर पर जान देता था और उनके बल-प्रभाव के सामने महाराज भी दब गये थे, फिर भी राज्य के सरदारों के बहुत आग्रह करने पर भी, राजा के करने के कामों को उन्होंने सदा अपने मन से दूर रखा। उस काल में भारत के दूसरे राज्यों के कर्णधारों में जैसा संघर्ष और खींचातानी चल रही थी, उसे देखते हुए इस देश के लिए जंगबहादुर का आत्मत्याग इसे कह सकते हैं।

१८७६ ई० के फ़रवरी महीने में जंगबहादुर शिकार खेलने गये थे। वहीं ज्वर-ग्रस्त हुए और साधारण-सी बीमारी के बाद २५ फ़रवरी को इस नश्वर संसार से विदा हो गये।

अकबर महान

नाम को अल्लाह अकबर क्या तेरे तौक़ीर है।
दाख़िले हरबांग है, शामिल वहर तकवीर है ।।*

बाबर की महत्त्वाकांक्षा ने चारो ओर से निराश होकर पठानों के आपस के लड़ाई-झगड़े के बदौलत हिन्दुस्तान में पाँव रखने की जगह पाई थी कि जनश्रुति के अनुसार पुत्र-प्रेम के आवेश में अपनी जान बेटे के आरोग्य-लाभ पर न्यौछावर कर दी। और उसका लाड़ला बेटा राज्यश्री को अंक में भरने भी न पाया था कि पठानों की बिखरी हुई शक्ति शेरखाँ सूर की महत्त्वाकांक्षा के रूप में प्रकट हुई। हुमायूँ की अवस्था उस समय विचित्र थी। राज्य को देखो तो बस इने-गिने दो-चार शहर थे, और शासन भी नाम का ही था। यद्यपि वह स्वयं उच्च मानव-गुणों से विभूषित था, पर उसमें ठीक राय क़ायम करने की योग्यता और निश्चय-शक्ति का अभाव था जो सम्पूर्ण राज्यकार्य के लिए आवश्यक है। घर की हालत देखो तो उसी गृहकलह का राज था जिसके कारण पठानों की शक्ति उसके बाप के वीरत्व और नीति-कौशल के सामने न टिक सकी। भाई, भाई की आँख का काँटा बन रहा था। मन्त्री और अधिकारी यद्यपि अनुभवी और वीर पुरुष थे; पर इस गृहकलह के कारण वह भी डाँवाडोल हो रहे थे। कभी एक भाई का साथ देने में अपना लाभ देखते थे, कभी दूसरे की

* अल्लाह अकबर! तेरे नाम की क्या महिमा है कि हर अज़ां में दाख़िल और हर तकबीर में शामिल है।

ओर हो जाते थे। सार यह कि बिगाड़ और विनाश की सारी सामग्री एकत्र थी। ऐसी अवस्था में वह शेरखाँ की मचलती महत्त्वाकांक्षा, प्रौढ़ नीतिकौशल और दृढ़ संकल्प के सामने टिकता तो क्योंकर। नतीजा वही हुआ जो पहले से दिखाई दे रहा था। शेरखाँ का बल-प्रताप बढ़ा, हुमायूँ का घटा। अन्त को उसे राज्य से हाथ धोकर जान लेकर भागने में ही कुशल दिखाई दी। वह समय भी कुछ विलक्षण विपद और असहायता का था। हुमायूँ कभी घबराकर बीकानेर और जैसलमेर की मरुभूमि में टकराता फिरता था, कभी क्षीण-सी आशा पर जोधपुर के पथरीले मैदानों की ओर बढ़ता था, पर विश्वासघात दूर से ही अपना डरावना चेहरा दिखाकर पाँव उखाड़ देता था। दुर्भाग्य की घटा, सब ओर छाई हुई है। .खून सफ़ेद हो गया है। भाई, भाई के खाने को दौड़ता है। नाम के मित्र बहुत हैं, पर सहायता का समय आया और अनजान बने, आशा की झलक भी कभी-कभी दिखाई दे जाती है, पर तुरत ही नैराश्य के अन्धकार में लुप्त हो जाती है। हद हो गई कि जब रास्ते में हुमायूँ का घोड़ा चल बसा तो वज्र-हृदय तरदी बेग ने जो उसके बाप का मित्र और .खुद उसका मन्त्री था, इस विपता के मारे बादशाह को अपने अस्तबल से एक घोड़ा देने में भी इनकार किया, जिसके कारण उसको ऊँट की ऊबड़-खाबड़ सवारी नसीब हुई। स्पष्ट है कि एक तुर्क के लिए जो मानो माँ के पेट से निकलकर घोड़े की पीठ पर आँख खोलता है, इससे बढ़कर क्या विपत्ति हो सकती है। ग़नीमत हुई कि उसके एक दोस्त नदीमखाँ को जो बेचारा अपनी बूढ़ी माँ को अपने घोड़े पर सवार करके .खुद पैदल जा रहा था, दया आ गई और उसने अपना घोड़ा हुमायूँ की नज़र करके उसके ऊँट पर अपनी माँ को बिठा दिया। ग़ज़ब यह है कि हालत तो ऐसी हो रही है कि रोंगटा-रोंगटा दुश्मन मालूम होता है, धरती-आकाश फाड़ खाने को दौड़ता है, पर इस परदेस और विपद्काल में हुमायूँ

की चहेती बीवी हमीदा बानू बेगम भी साथ है। वह भी इस हाल में कि पूरे दिन हैं और हर क़दम पर डर है कि कहीं प्रसव-पीड़ा का सामना न करना पड़े।

ख़ैर, ख़ुदा-ख़ुदा करके किसी तरह यह असहाय क़ाफ़िला सिंध के सपाट जंगलों को पार करता हुआ अमरकोट पहुँचा और वहाँ पाँव रखने को जगह भी मिली, पर भेड़िया बने हुए भाई सब ओर से ताक में लगे हुए थे। इस कारण उसे पत्नी को वहीं छोड़ उनके मुक़ाबिले के लिए रवाना होना पड़ा। इस समय बेचारी हमीदा बानू की जो दशा होगी, ईश्वर दुश्मन को भी उसमें न डाले। न तन पर कपड़ा, न पेट के लिए खाना, न कोई मित्र, न सहायक, यहाँ तक कि पति भी जान के सौदे में लगा हुआ, उस पर पराया देश और पराये लोग। पर जिस तरह गहरे सूखे के समय सब ओर से काली घटाएँ उठकर क्षणभर में तृण-सा रहित धरती को शस्य-श्यामला बना देती है या अचानक घनघोर अंधकार में दल-बादल फटकर भूमण्डल को प्रभाकर की प्रखर किरणों से आलोकित कर देता है या जिस तरह—

सितारा सुबहे इशरत का शबे मातम निकलता है।*

उसी तरह तारीख़ ५ रजब सन् ९४४ हिज्री (१४ अक्तूबर १५४२ ई०) रविवार की रात्रि में उस मंगल नक्षत्र को उदय हुआ जो अन्त में दुनिया पर सूरज बनकर चमका।

अकबर जैसे दुर्दिन में जन्मा था वैसे ही असहाय अवस्था में उसका बचपन भी बीता। अभी पूरा एक बरस का भी न होने पाया था कि मिरज़ा असकरी के विश्वासघात के भय से माँ-बाप का साथ छूटा और निर्दय चचा के हाथ पड़ा। पर भगवान भला करें उसकी बीवी सुलतान बेगम और अकबर की दाइयों माहम बेगम और जीजी अतका का कि बच्चे को किसी प्रकार का कष्ट

* दुःख-निशा के अवसान पर सुख-सूर्य का उदय होता है।

न होने पाया। जब अकबर दो साल से कुछ ऊपर हुआ तो हुमायूँ ने फिर काबुल को विजय किया, और उसे पिता के दर्शन नसीब हुए। पर अभी पाँच बरस का न हुआ था कि फिर ज़ालिम कामरान के हाथ पड़ गया और जब हुमायूँ काबुल के क़िले पर घेरा डालने में लगा हुआ था, एक मोरचे पर, जहाँ ज़ोर-शोर से गोले बरस रहे थे, इस नन्हीं-सी जान को बिठा दिया गया कि काल का ग्रास बन जाय। पर धन्य है माहम के स्नेह और कर्तव्य-निष्ठा को कि उसको अपनी देह से छिपाकर मोरचे की ओर पीठ करके बैठ गई। स्पष्ट है कि ऐसी विपत्ति और परेशानी की हालत में पढ़ाई-लिखाई तो क्या किसी भी बात का प्रबन्ध नहीं हो सकता, और इसी लिए अकबर पिता की शिक्षाप्रद छाया से पृथक् होकर साक्षरता से भी वंचित रह गया। पर जिस प्रकार असहायता की गोद में उसका पालन-पोषण हुआ उसी प्रकार उसकी शिक्षा-दीक्षा भी विपद के महाविद्यालय में हुई। और यह उसी का फल है कि आरम्भ में ही उसमें वह उच्च मानव-गुण उत्पन्न हो गये जो जीवन-संघर्ष में विजय-लाभ के लिए अनिवार्य आवश्यक हैं। बारह बरस आठ महीने की उम्र में वह सरहिन्द की लड़ाई में शरीक हुआ, और अभी पूरे १४ साल का न होने पाया था कि हुमायूँ के अचानक परलोक सिधार जाने से उसको अनाथत्व का पद और राज्य का छत्र मिला। तारीख़ २ रबी उस्सानी सन ९६३ हिज्री (१५५६ ई०) को उसने राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

बादशाह बालक और राज्य-विस्तार नहीं के बराबर थे, पर उनके शिक्षक और संरक्षक बैरम खाँ की स्वामिभक्ति और कार्य-कुशलता हर समय आड़े आने को तैयार रहती थी। आरम्भ के युद्धों में बैरम ख़ाँ ने बड़ी ही नीति-कुशलता और वीरता का परिचय दिया। यह इसी का फल था कि अफ़गान षड्यन्त्रों की जड़ उखड़ गई और हिन्दुस्तान का काफ़ी बड़ा हिस्सा मुग़ल

साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। * पर चार वरस की .खुद-मुख्तारी ने कुछ तो वैरम ख़ाँ का सिर फिराया और इधर वयवृद्धि के साथ अकवर ने भी पर-पुर्ज़े निकाले और कुछ दूसरे सरदारों के हृदय में ईर्ष्या की आग सुलगी। और उन्होंने तरह-तरह से वादशाह को शासन की लगाम अपने हाथ में लेने के लिए उभारा। नतीजा यह हुआ कि वैरम ख़ाँ के प्रभाव का सूर्य अस्त हो गया और अकवर ने प्रत्यक्ष रूप से देश का शासन आरम्भ किया। करीव २० साल तक अकवर हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न सूवों को जीतने, अपने वाग़ी सरदारों की साज़िशों को तोड़ने और वग़ावतों को दवाने में लगा रहा। यहाँ तक कि पञ्जाव और दिल्ली के सूवों के सिवा, जो उसे विरासत में मिले थे, कावुल, कंधार, काश्मीर, सिंध, मेवाड़, गुजरात, अवध, विहार, वंगाल, उड़ीसा, अहमदनगर, मालवा और खानदेश सव उसकी राज्य-परिधि के भीतर आ गये। अर्थात् पच्छिम में उसके राज्य का डाँड़ा हिन्दूकुश से मिला हुआ था, और पूरव में वंगाल की खाड़ी से उत्तर में हिमालय से टकराता था तो दक्षिण में पच्छिमी घाट से। ये विजयें केवल अकवर के सेना-नायकों की रणकुशलता का ही सुफल न थीं, वल्कि इनमें पूरे तौर से .खुद भी उसने अपनी बुद्धिमानी, दूरदर्शिता, मुस्तैदी, अथक परिश्रम, निर्भीकता और जागरूकता का प्रमाण दिया था। उसके सेनापति जव सुदूर प्रदेशों की चढ़ाई में लगे होते थे और वह ज़रा भी उनको ग़लत रास्ते की ओर झुकता हुआ देखता या उनकी कोशिशों में ढिलाई पाता, तो अचानक विजली की तरह, एक-एक हफ़्ते की राह एक-एक दिन में तै करके उनके सिर पर जा धमकता था। मालवा,

* राज्यारोहण के पहले ही वर्ष में जव पठानों का प्रसिद्ध सेना-नायक हेमू वक़्क़ाल (हेमचन्द्र) गिरफ़्तार होकर आया, तो वैराम ख़ाँ के आग्रह करने पर भी उच्चमना अकवर ने अपनी तलवार को एक असहाय क़ैदी के रक्त से रँगना पसन्द न किया।

गुजरात और बंगाल की चढ़ाइयाँ आज तक उसकी मुस्तैदी और जवाँमर्दी की गवाही दे रही हैं। उसकी दैव-दत्त प्रतिभा ने युद्ध-विद्या को जहाँ पाया वहीं नहीं छोड़ा, किन्तु उसकी प्रत्येक शाखा को और आगे बढ़ाया। आज के युग में तोपों के बनाने और उनसे काम लेने में जितनी प्रगति हुई है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं है, पर अकबर उस पुराने ज़माने में ही उनकी आवश्यकता को जान गया था, और उसने एक ऐसी तोप ईजाद की थी जो एक शितावे में १७ फ़ैर करती थी। कुछ ऐसी तोपें भी बनवाई थीं, जिनके टुकड़े-टुकड़े करके एक जगह से दूसरी जगह आसानी से ले जा सकते थे। हिन्दुस्तान में बहुत पुराने ज़माने से सेना-नायकों और मनसबदारों की धाँधली के कारण सेना की विचित्र अवस्था हो रही थी। सिपाहियों और सवारों की तनख़ाओं के लिए सरदारों को बड़ी-बड़ी जागीरें दी गई थीं। पर सेना को देखो तो पता नहीं, और जो थी भी उसकी कुछ अजीब हालत थी। किसी सैनिक के पास घोड़ा है तो ज़ीन नहीं, हथियार है तो कपड़े नहीं; अकबर ने सबसे पहले अपनी सुधारक दृष्टि इसी ओर डाली और सिपाहियों को सरदारों के पोषण से निकालकर राज्य की छत्र-छाया में लिया। उनकी नक़द तनख़ाहें बाँध दीं और चेहरानवीसी तथा घोड़ों के दाग़ के द्वारा उनको बदनीयती के चंगुल से छुटकारा दिलाया और इस प्रकार समय पर काम देनेवाली स्थायी सेना (Standing Army) की नींव डाली। इस प्रकार अकबर ही पहला व्यक्ति है जिसने प्राचीन समस्त पद्धति को तोड़कर राज्य की शक्ति तथा अधिकार की स्थापना की।

यद्यपि दुनिया के महान विजेताओं की श्रेणी में अकबर को भी, अपनी चढ़ाइयों की सफलता और विजित भूखण्ड के विस्तार की दृष्टि से, विशिष्ट पद प्राप्त है, पर जिस बात ने वस्तुतः अकबर को अकबर बनाया, वह उसका जंगी कारनामा नहीं है, किन्तु वह

अधिभूत की सीमा को पार कर अध्यात्म तक फैली हुई है। उसने जीवन के आरम्भ में ही विपद् के विद्यालय में जो शिक्षा पाई थी, वह ऐसी उथली न थी कि अपने बाप की तबाही और खड़े-खड़े हिन्दुस्तान निकाले जाने और दर-दर ठोकरें खाने फिरने से प्रभावकारी उपदेश न ग्रहण करता! और यह बात सच हो या न हो कि उसके पिता को ईरान के बादशाह तहमास्प सफ़वी ने हिन्दुस्तान लौटते समय दो उपदेश दिये थे—एक यह कि पठानों को व्यापार में लगाना, दूसरा यह कि भारत की देशी जातियों को अपना बनाना, पर समय ने स्वयं उसको बता दिया था कि राज्य को टिकाऊ बनाने का कोई उपाय हो सकता है तो वह यही है कि उसकी नींव तलवार की पतली धार के बदले लोक-कल्याण के द्वारा प्रजा के हृदयों में स्थापित की जाय। अतः पहले ही साल उसने एक ऐसा आदेश निकाला, जो इङ्गलैंड की आज सारी उन्नति-समृद्धि का रहस्य है, पर जो सैकड़ों साल तक ठोकरें खाने के बाद उसको सूझ गया। अर्थात् व्यापार-वाणिज्य को उन सब करों से मुक्त कर दिया जो उसकी उन्नति में बाधक हो रहे थे। और यद्यपि आरम्भ में उसकी अल्पवयस्कता और असहायता के कारण वह पूरी तरह कार्यान्वित न हो सका, पर जब शासन का सूत्र उसके हाथ में आया तो वह उसको जारी करके रहा। यह तो वह बर्ताव है जो भीतरी व्यापार के साथ किया गया। विदेशी व्यापार को भी कुछ भारी करों से बाधा पहुँच रही थी जो मीर बहरी या समुद्री कर (Sea costums) कहलाते थे। अकबर ने इन करों को भी इतना घटा दिया कि वह नाम-मात्र के अर्थात् २॥ प्रतिशत रह गये और इससे देश के विदेशी व्यापार को जितना लाभ हुआ उसे बताने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि 'फ्री ट्रेड' अर्थात् 'अबाध वाणिज्य' ब्रिटिश सरकार का ओढ़ना-बिछौना है, पर इस जमाने में भी समुद्री करों की दर अकबर की बाँधी हुई से कहीं अधिक है।

सारी दुनिया के क़ानूनों का यह झुकाव रहा है कि आरम्भ में छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी अति कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाती है, पर जब सभ्यता में उन्नति और जाति की स्थिति में प्रगति होने लगती है तो सज़ा में भी नरमी होती जाती है। भारतवर्ष में भी पुरातन-काल से कुछ जंगली सज़ाओं का रिवाज़ चला आता था, जैसे हाथ-पाँव काट देना, अंधा कर देना आदि। अकबर के जाग्रत विवेक ने इनकी अमानुषिकता को समझ लिया और राज्यारोहण के छठे साल में ही इनको बिलकुल बंद कर दिया। पुराने ज़माने में यह रीति थी कि युद्ध में जो थोड़ा क़ैद होते थे, वह जीवन भर के लिए स्वतन्त्रता से वंचित होकर विजेता के दास बन जाते थे। रणनीति और राजनीति की दृष्टि से इसका कैसा ही असर क्यों न पड़ता हो, पर मानवता के विचार से यह प्रथा जितनी क्रूर और अत्याचार-पूर्ण है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं। इसलिए अकबर के लिए यह गर्व करने योग्य बात है कि उसने सन् ७ जुलस (राज्यारोहण संवत्) में ही यह नियम बना दिया कि जो आदमी लड़ाई में क़ैद हो वह ग़ुलाम न बनाया जाय। जो पहले से यह अवस्था प्राप्त कर चुके थे, उनका भी ग़ुलामी का दाग़ इस हद तक धो दिया कि उनके कुछ विशेष अधिकार निश्चित कर दिये और उनका नाम भी दास या ग़ुलाम से बदलकर 'चेला' कर दिया। इसी के साथ ग़ुलामों की आम ख़रीद-बिक्री भी एकदम बन्द कर दी। इसके अगले साल यात्रियों से जो एक जबर्दस्ती का कर लिया जाता था, उसको उठा दिया। यह मानो प्रथम बार इस बात की घोषणा थी कि हर आदमी अपने धर्म-विश्वास की दृष्टि से स्वाधीन है और उसके स्वधर्माचरण में किसी प्रकार की रोक-टोक न होनी चाहिए।

सन् ७ जुलूस में जो विचार कुछ दबी ज़बान में प्रकट किया गया था, अगले साल ख़ूब ज़ोर-शोर से उसकी घोषणा की गई,

और अकबर ने ऐसा काम किया जिसने वस्तुतः शासक और शासित का पद राज्य के सामने एक कर दिया। अर्थात् जिज़िया माफ़ कर दिया। जिज़िया वस्तुतः कोई वैसा कुत्सित कर नहीं था जैसा कि यूरोपियन इतिहासकारों ने समझा है, किन्तु वह विजित जाति से इसलिए लिया जाता था कि वह सैनिक सेवा से मुस्तसना होती थी। उद्देश्य यह था कि देश-रक्षा के लिए विजेता जाति जिस प्रकार अपनी जान लड़ाती थी, विजित जाति उसी तरह अपने माल से उसमें मदद करे। भारत के इतिहास का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो मालूम होगा कि आरम्भ में सरकार कम्पनी बहादुर देशी राज्यों में जो सहायक सेना या कंटिंजेंट (Contingant) के नाम से कुछ पलटनें रखकर उनका ख़र्च वसूल किया करती थी, वह भी एक तरह का जिज़िया ही था। और आज भी जो सैनिक या साम्राज्य-सम्बन्धी (इम्पीरियल) व्यय कहलाते हैं और जिनमें देशवासियों का कोई अधिकार या आवाज़ नहीं, उनका नाम कुछ ही क्यों न रखा जाय, जिज़िया की परिभाषा उन पर भी घटित हो सकती है। मुसलमानों ने बहुत पुराने समय से अनिवार्य भरती (Conseription) अर्थात् आवश्यकता के समय सैनिक रूप से काम करने की बाध्यता चली आ रही है। इस कारण मुस्तसना होने का अधिकार एक बहुत बड़ा हक़ था और सम्भव होता तो शायद बहुत से मुसलमान भी उससे लाभ उठाते। पर चूँकि अकबर का उद्देश्य विजेता और विजित का भेद मिटाकर अपने शासन को स्वदेशी भारत की राष्ट्रीय सरकार बनाना था, जिसकी सच्ची उन्नति के लिए हिन्दुओं की प्रखर बुद्धि और शौर्य-साहस की वैसी ही आवश्यकता थी जैसी मुसलमानों की कार्य-कुशलता और वीरता की, और देश की शान्ति के रक्षण-पोषण में हिन्दू भी उसी प्रकार भाग लेने के अधिकारी थे, जिस प्रकार मुसलमान। इसलिए विजित और विजेता में जिज़िया के द्वारा जो भेद स्थापित किया

गया था, वह वास्तव में बाक़ी न रहा था और जिज़िया वस्तुतः उत्पीड़क कर हो गया था, इसलिए उसने उसको उठाकर प्रजा के सब वर्गों की समानता की घोषणा की, यद्यपि अकबर ने हमारी उदार सरकार की तरह इस बात की घोषणा नहीं की थी कि राज्यकार्य में जाति, रंग या धर्म का कोई भेद-भाव न रखा जायगा, पर व्यवहारतः वह नियुक्तियों में, चाहे वह शासन-विभाग की हों, चाहे सेना या अर्थ-विभाग की, अब्दुल्ला और रामदास में कोई भेद न करता था। यहाँ तक कि कोई भी पद ऐसा न था, जो हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए समान रूप से खुला हुआ न हो। उसकी निष्पक्षता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि मानसिंह को ख़ास सूबे काबुल की गवर्नरी का गौरव दिया जहाँ की आबादी सोलहो आने मुसलमान थी। इसी प्रकार फ़ौजी चढ़ाइयों का सेनापतित्व अगर ख़ानख़ाना और ख़ाँ आज़म को सौंपा जाता था तो भगवानदास और मानसिंह का दरजा भी उनसे कम न होता था, और शासन तथा अर्थ-प्रबन्ध के मामलों में अगर मुज़फ़्फ़र खाँ की सलाह से काम किया जाता था तो टोडरमल की सम्मति उससे भी अधिक आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। इसी तरह फैज़ी और अबुलफ़ज़ल यदि दरबार की शोभा थे तो बीरबल भी अकबर के राज-मुकुट का एक अमूल्य रत्न था। यही वह वस्तु थी जिसने राजपूतों और ब्राह्मणों को राज्य का इतना शुभचिन्तक बना दिया था कि अपने बाग़ी देशवासियों और सधर्मियों के मुक़ाबले लड़ने और जान देने में भी आगा-पीछा न होता था।

जान पड़ता है कि अकबर को रात-दिन यही चिन्ता रहती थी कि किस तरह भारत की विभिन्न जातियों-साम्प्रदायों को एक में मिलाकर शक्तिशाली स्वदेशी राज्य की स्थापना करे। इसी लिए उसने पुराने राजपूत घरानों से नाता जोड़ने की रीति चलाई, जिसमें राज-कुल को वे ग़ैर की जगह अपना समझने

लगे। इसी उद्देश्य से सन २३ जुलूस में फ़तहपुर सीकरी के 'इबादतख़ाने'* (उपासनागृह) में उन धार्मिक शास्त्रार्थों की आयोजना की जिनमें प्रत्येक जाति तथा धर्म के विद्वान् सम्मिलित होते थे और बिना किसी भय-संकोच के अपने-अपने धर्म के तत्त्वों की व्याख्या करते थे। इन्हीं शास्त्रार्थों और ज्ञान-चर्चाओं का यह फल हुआ कि अकबर जो बिलकुल अपढ़ था, विचारों की उँचाई पर पहुँच गया जो केवल दार्शनिकों के लिए सुलभ है, और जहाँ से सभी धर्मों के सिद्धान्त आध्यात्मिकता का रंग लिये हुए आते हैं। इनका एक बड़ा लाभ यह भी हुआ कि जो लोग इनमें सम्मिलित होते थे उनकी दृष्टि अधिक व्यापक हो जाने से धर्मगत संकीर्णता और कट्टरपन अपने-आप घट गया। उस काल में इसलाम धर्म की भी शताब्दियों की गतानुगतिकता और धर्माचार्यों के पाण्डित्य-प्रदर्शन से विचित्र दशा हो रही थी। सरलता जो इस लाभ की विशेषता है, नाम को बाक़ी न रही थी और धर्म अन्धविश्वासों और गतानुतिक विचारों की गठरी बन रहा था। आलियों और मुल्लाओं की हालत इससे भी गई-बीती थी। यद्यपि ये लोग मक्कारी का लबादा हर समय ओढ़े रहते थे, पर पद और प्रतिष्ठा के लिए धर्म के विधि-निषेधों को बच्चों का खेल समझते थे, और जैसा मौक़ा देखते वैसा ही फ़तवा तैयार हो जाते थे। इस

---

*एल फ़िन्स्टन, ब्राकमैन आदि अंग्रेज़ ऐतिहासिकों ने इस सम्मेलन को बहुत महत्त्व दिया है। पर वस्तुतः यह कोई नई बात न थी। चारों आरम्भिक ख़लीफ़ों के अतिरिक्त उमैया और अब्बासी घरानों के ख़लीफ़ों का भी धार्मिक विषयों में नेतृत्व इमाम का पद सर्व-स्वीकृत था। इसी प्रकार तुर्कों में शैखुल इसलाम अब तक मुजतहिद (धर्माध्यक्ष) का दरजा रखते हैं और शीया लोगों में ऐसा कोई समय नहीं होता जब दो-चार मुजतहिद मौजूद न हों।

संबंध में मखदूमूल् मुल्क और सदरजहाँ के कारनामे और ज़मानासाज़ी जानने योग्य है। इन्हीं कारणों से अकबर का वह आरंभिक धर्मोत्साह जिससे प्रेरित हो वह पैदल अजमेर शरीफ़ की यात्रा या दिन-रात 'या मुईन' का जय किया करता था, ठंडा होता गया। और वह यह नतीजा निकालने को लाचार हुआ कि जब तक अंधानुकरण के उस मज़बूत जाल से, जिसने मनुष्यों में बुद्धि-विवेक को क़ैद कर रखा है, छुटकारा न मिले, किसी स्थायी सुधार की आशा नहीं हो सकती। अतः उसने सन जलूस के २४ वें साल में उलेमा से इमाम-आदिल अर्थात् प्रधान धर्म-निर्णायक की सनद हासिल की और दीने इलाही की नींव डाली जिसका दरवाज़ा सब धर्मवालों के लिए समान रूप से खुला हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि यह कार्य एक अपढ़ तुर्क की सामर्थ्य और अधिकार के बाहर की बात थी, और इसी कारण अबुलफ़ज़ल जैसे प्रकाण्ड पण्डितों को अपना सारा बुद्धिबल लगा देने पर भी जैसी सफलता चाहिए थी, वैसे न हुई, बल्कि एक खेल-तमाशा बनकर रह गया। पर इसका इतना प्रभाव अवश्य हुआ कि धर्म-गत असहिष्णुता की बुराई जो देश-वासियों को पारस्परिक वैमनस्य के कारण सिर न उठाने देती थीं, एक दम दूर हो गई और संकीर्णता की जगह लोगों के विचारों में उदारता आ गई! अक़बर यद्यपि स्वयं कुछ पढ़ा-लिखा न था, पर वह भली भाँति जानता था कि धार्मिक द्वेष का कारण अज्ञान है। और उसे हटाने तथा अधीन जातियों पर ठीक प्रकार से शासन करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उनका इतिहास, साहित्य और रीति-व्यवहार की अधिक जानकारी प्राप्त की जाय। इसी विचार से बग़दाद के खलीफ़ों की तरह उसने भी एक भाषान्तर-विभाग स्थापित कर बीसियों संस्कृत ग्रंथों का उलथा करा डाला। दाढ़ी मुँडाने, गोमांस और लहसुन-प्याज़ न खाने, और ग़मी के

मौक़ों पर भद्रा कराने का उद्देश्य भी यही था कि शासक और शासित के विचारों का भेद मिट जाय। अक़बर भली-भाँति जानता था कि वह मुसलमान तो है ही, इसलिए मेल और एकता स्थापित करने के लिए उसको आवश्यकता है तो हिन्दुओं की रीति-भाँति ग्रहण करने की है।

जातियों और धर्मों का विलगाव विरोध दूर करने के बाद अकबर ने उन सुधारों की ओर ध्यान दिया जो मानव-समाज की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। समाज-संघटन का आधार विवाह-व्यवस्था है, और इस सम्बन्ध में आये दिन झगड़े पैदा होते रहते हैं जो कुल-कुटुम्ब को नाश कर देते या स्वयं पति-पत्नी के जीवन को मिट्टी में मिला देते हैं, और आरम्भ में ही पूरी सावधानी न बरती जाय तो इनका असर वर्तमान पीढ़ी से लगाकर आने-वाली पीढ़ी तक पहुँचता है। अक़बर ने बड़ी दूर-दर्शिता से काम लेकर निश्चय किया कि निकट सम्बन्धियों में व्याह न हुआ करे। इसी प्रकार किसी का व्याह बालिग़ होने के पहले या स्त्री उम्र में पुरुष से १२ साल से अधिक बड़ी हो तो भी, न हुआ करे। बहु विवाह भी अनुचित बताया गया और इन बातों की निगरानी के लिए यह नियम बना दिया गया कि सब व्याह सरकारी दफ़्तर में लिखे जाया करें। हिन्दुओं की ऊँची जातियों में विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा न होने से समाज-व्यवस्था में जो ख़राबियाँ पड़ती हैं वे किसी से छिपी नहीं हैं। और यद्यपि ऐसें मामलों में क़ानूनी हस्तक्षेप उचित नहीं होता, पर अकबर ने इस विषय में भी बड़ी दूर-दर्शिता से काम लिया और यह अति हितकर नियम बना दिया कि अगर कोई विधवा पुनर्विवाह करना चाहे तो उसको रोकना अपराध होगा। इनमें से अधिकतर वह महत्त्वपूर्ण सुधार हैं, जिनके लिए आजकल के समाज-सुधारक जोर दे रहे हैं, पर नक्कारख़ाने में तूती की आवाज़ कोई नहीं सुनता। सती

की क्रूर-कुत्सित प्रथा के अन्त का श्रेय भी अकबर को ही प्राप्त है। और अपने विधानों में उसको ऐसा प्रेम था कि जब राजा जयमल बंगाल की चढ़ाई में रास्ते में चाँसा पहुँचकर गत हो गया और उसके सम्बन्धियों ने उसकी रानी को सती होने पर विवश किया तो अक़बर ख़ुद लम्बी मंज़िलें मारकर वहाँ जा पहुँचा और उनको इस कुत्सित कार्य से बाज़ रखा।

विद्या आत्मा का आहार और जाति की उन्नति का आधार है, इसलिए अक़बर ने इस ओर भी पूरा ध्यान दिया और उपयोगी पाठ्यक्रम निर्द्धारित कर के शिक्षा-प्रणाली में भी ऐसे हितकर सुधार किये कि बक़ौल अबुलफ़ज़ल के जो बात बरसों में हो पाती थीं, वह महीनों में होने लगी। शराब, ताड़ी आदि पर कर लगाकर जनसाधारण के अनाचार को उसने अपना ख़ज़ाना भरने का साधन नहीं बनाया, पर इसके साथ-साथ, लोगों के वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप न करने की नीति के अनुसार यह भी ताकीद कर दी कि अगर कोई छिप-छिपाकर नशीली चीज़ों का इस्तेमाल करे तो उससे रोक-टोक न की जाय। वर्तमान काल में हमारे राजनीतिक सुधारक आबकारी कर और मादक द्रव्यों पर जैसी आपत्तियाँ किया करते हैं, उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं, और न यह बताने की ही कि अकबर के प्रबन्ध पर वह कहाँ तक चरितार्थ हो सकती है। धान्य और पशुओं की वृद्धि तथा कला-कौशल की उन्नति के लिए उसने यह उपाय किया कि एक-एक वस्तु की उन्नति के लिए एक-एक अधिकारी को ज़िम्मेदार बना दिया। और इस बात की निगरानी के लिए कि उन्होंने अपने उस विशेष कर्तव्य के पालन पर कहाँ तक ध्यान दिया, नौरोज़ के उत्सव के बाद ख़ास शाही महल में एक बड़ा बाज़ार लगता था, जिसमें ख़ुद बादशाह, प्रमुख अधिकारी और दरबारी तथा राजकुल की महिलाएँ खरीद-

बिक्री करती थीं। हर आदमी अपना कमाल दिखाने की कोशिश करता था। इस बाज़ार को वर्तमान काल की प्रदर्शनियों का मूल मान सकते हैं। और प्रकार से भी उसे व्यापार-व्यवसाय की उन्नति का अत्यधिक ध्यान रहता था, जिसका एक बहुत छोटा-सा प्रमाण दलालों की नियुक्ति है। ग़रीबों की मदद के लिए राजधानी के बाहर दो विशाल भवन 'ख़ैरपुरा' और 'धर्म-पुरा' के नाम से बनवाये गये, जिनमें से एक मुसलमानों के लिए था, दूसरा हिन्दुओं के लिए। इनमें हर समय हर आदमी को तैयार खाना मिलता था। इन मकानों में जब जोगी बहुत ज्यादा जमा होने लगे जिससे दूसरों को तकलीफ़ होने लगी, तो उनके लिए एक अलग मकान 'जोगीपुरा' के नाम से बनवाया गया।

राज्य-प्रबन्ध की उत्तमता इन्हीं दो-चार बातों पर अवलंबित होती है—वैयक्तिक स्वाधीनता, शान्ति और व्यवस्था करों का नरम होना और बँधी दर से लिया जाना, रास्तों का अच्छी हालत में रहना आदि। और इस दृष्टि से अकबर के राज्य-काल पर विचार किया जाय तो वह किसी से पीछे न दिखाई देगा। वैयक्तिक स्वाधीनता की तो यह स्थिति थी कि हर आदमी को अख़्तियार था कि जो धर्म चाहे स्वीकार करे। इस विषय में यहाँ तक व्यवस्था थी कि कोई हिन्दू बालक बचपन में मुसलमान हो जाय, बालिग़ होने पर अपने पैतृक धर्म को पुनः ग्रहण कर सकता था। और कोई हिंदू स्त्री किसी मुसलमान के घर में पाई जाय तो अपने वारिसों के पास पहुँचाई जाय। आज समय में पादरी लोग व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की आड़ में विभिन्न जातियों के अनाथ बच्चों के साथ जो बर्ताव किया करते हैं या कहीं ज़नाना मिशनों के ज़रिये अपढ़ स्त्रियों के मन में अनेक पैतृक धर्म के प्रति विरक्ति उत्पन्न करके जिस तरह घर बिगाड़ने का कारण हुआ करते हैं, उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं, शांति-रक्षा के लिए भी

अकबर ने वहुत ही बुद्धिमत्ता-पूर्ण आदेश निकाले थे, जैसा कि जरायमपेशा लोगों और अन्य जातिवालों की निगरानी के लिए हर महल्ले में एक-एक आदमी को, जो 'मीर महल्ला' कहलाता था, ज़िम्मेदार वना देते और कोतवाल व चौकीदारों के कर्तव्यों की ज़िम्मेदारियों की सूची से प्रकट होता है। लोगों का फ़रियाद सुनने और उनके आपस के झगड़े निवटाने के लिए क़ाज़ी और मीर अदल नियुक्त थे, जिनमें क़ाज़ी का काम जाँच करना और मीर अदल का निर्णय सुनाना था। सव की निगरानी के लिए एक उच्च अधिकारी सदरजहाँ नाम से नियुक्त था। कर्तव्यों के इस विभाग से प्रकट होता है कि न्याय-दान का काम कैसी सावधानी से होता होगा। और ख़ूवी यह है कि अदने से अदना आदमी विना किसी ख़र्च के इस व्यवस्था से लाभ उठा सकता था। क्योंकि उस ज़माने में न कोई स्टाम्प क़ानून था, और न वकील-मण्डली। कर-व्यवस्था की ओर आरम्भ से ही अकवर का जो ध्यान था, उसकी चर्चा पहले आनुषंगिक रूप से हो चुकी है। उसने वड़ी ही दृढ़ता और बुद्धिमत्ता के साथ उन सव करों को एकवारगी उठा दिया जो राष्ट्र की उन्नति में वाधक थे या लोगों का दिल दुखाते थे। और जो कर वहाल रखे उन के सम्वन्ध में भी सीधे और साफ़ कायदे वना दिये। मालगुजारी के वन्दोवस्त के मुख्य सिद्धान्त यह हैं कि जोती-वोयी जानेवाली भूमि का रक़वा निश्चित हो। लगान कुछ साल की औसत पैदावार के विचार से ज़मीन के उत्तम मध्यम होने का ध्यान रखकर ऐसी मध्यम दर से नियत किया जाय जिसमें अच्छी वुरी दोनों तरह की फसलों के लिए ठीक पड़े, और किसान को अपनी जोत की ज़मीन के अतिरिक्त परती ज़मीन को भी लेने की प्रवृत्ति हो, यह सिद्धान्ततः तो सरकार के लाभ की दृष्टि से आवश्यक है, पर किसान (यलमी अधिकार) का लाभ इसमें है कि ज़मीन पर उसको क़ब्ज़ा रखने का हक़ हासिल हो, जिसमें वह मन लगाकर उसको

जोते-बोये और उसकी उर्वरता बढ़ाने का भी यत्न करे, लगान की दर निश्चित और ज्ञात हो जिसमें अहलकारों को उसे ज्यादा सताने का मौक़ा न मिले, और इतनी नरम हो कि हर साल उसे कुछ बचत होती रहे, जिसमें फ़सल मारी जाने पर आसानी से गुज़र कर सके। यही वह सिद्धान्त थे, जिन पर टोडरमल और मुज़फ्फ़र ख़ाँ का मालगुज़ारी का बन्दोबस्त आश्रित था और वही आज तक मालगुज़ारी के कारिन्दों के आधार हैं। ज़िले का माल अफ़सर 'आमिल गुज़ार' कहलाता था, जिसे अच्छी बुरी फ़सल का ध्यान रखते हुए मालगुज़ारी वसूल करने के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार प्राप्त थे, और सूबे का गवर्नर सेनापति होता था।

गणना-शास्त्र (Stats tics) की इस ज़माने में इतनी उन्नति हुई है कि भारत सरकार ने उसका एक स्वतन्त्र विभाग ही बना दिया है और सब सरकारी दफ़्तरों का बड़ा समय नक़्शे तैयार करने में जाता है। और जो नतीजे उनसे निकलते हैं, उनसे निरीक्षण तथा प्रबन्ध में बड़ी सहायता मिलती है। पर इसकी नींव भी हिन्दुस्तान में अकबर ही ने डाली थी, और मुफ़स्सिल के अफ़सरान जो दैनिक, साप्ताहिक और मासिक रिपोर्ट भेजा करते थे, उनसे केन्द्रीय अधिकारियों को निगरानी का अच्छा मौक़ा मिलता था।

अब गमनागमन की सुविधा की दृष्टि से अकबर के प्रबन्ध को देखा जाय तो दिखाई देगा कि यात्रा-कर तो उसने एक दम उठा दिया था, और सुप्रबन्ध के कारण हर आदमी निर्भय एक से दूसरी जगह आ-जा सकता था। इसके सिवा आरम्भिक राज्य-काल में मुईनुद्दीन चिश्ती के प्रति अपनी सविशेष श्रद्धा के कारण आगरे से अजमेर शरीफ़ तक एक पक्की सड़क बनवा दी थी जिस पर कोस-कोस पर छोटे-छोटे मीनार और कुएँ और हर मंज़िल पर सराय थी जिनमें मुसाफ़िरों को पका खाना मिलता था। सन जुलूस के ४२ वें साल में लोक-कल्याण की दृष्टि से इस

हुक्म को आय कर दिया, पर जान पड़ता है कि अकबर को इस योजना को पूरी कराने का मौक़ा नहीं मिला। सन् ४१ में अकाल पड़ा और अकबरनामे को देखने मालूम होता है कि अकबर ने गरीब मुहताजों की सहायता का विशेष प्रबन्ध किया था, और इस काम के लिए विशेष कर्मचारी भी नियुक्त किये थे। इस से प्रकट है कि उस अभिनन्दनीय व्यवस्था का प्रवर्तक भी अकबर ही था जिसकी ब्रिटिश सरकार के शासन में, अनेक अकाल कमीशनों की बदौलत बहुत कुछ उन्नति हुई है। हमने केवल उन बड़े-बड़े विभागों का संक्षिप्त परिचय दिया है जिनका प्रभाव जन-साधारण के सुख-दुःख पर पड़ता है। इनके सिवा और भी जितने महकमे थे, जैसे टकसाल, ख़ज़ाना, ऊँटख़ाना, हाथीख़ाना आदि, उनके नियम भी बड़ी सूक्ष्मदर्शिता के साथ बनाये गये थे। सारांश, राज्य का कोई भी विभाग ऐसा न था, जिसको अकबर की बुद्धिमानी से लाभ न पहुँचा हो।

अब राज्य-प्रबन्ध से आगे बढ़कर अकबर के निजी जीवन पर दृष्टि डाली जाय तो वह बड़ा ही प्यार करने योग्य व्यक्ति था। विनोदशीलता इतनी थी कि कैसा ही 'शुष्कं काष्ठं' व्यक्ति उसकी गोष्ठी में सम्मिलित हो, मजाल नहीं हास्य-रस में शराबोर न हो जाय। सौजन्य और दया का तो पुतला था। जिस आदमी की उस तक पहुँच जाती उम्र भर के लिए अर्थ-चिन्ता से मुक्त हो जाता। और जिस शत्रु ने उसके सामने सिर झुका दिया, उसके लिए उसके क्षमा और अनुग्रह का स्रोत उमड़ उठा और उसको अपने ख़ास दरबारियों में दाख़िल किया। भोजन एक ही समय करता और विषय-वासना के भी वश में न था। यद्यपि पढ़ा-लिखा न था, पर अपना समय प्रायः शास्त्र-चर्चा तथा सब प्रकार के ग्रन्थों को पढ़वाकर सुनने में लगाया करता था। और विद्वानों की चाहे वे किसी भी धर्म या जाति के हों, बड़ा आदर करता था। उसमें आदमियों की पहचान ज़बर्दस्त थी और

चुनाव की यह ख़ूबी थी कि जो आदमी जिस कार्य के लिए विशेष योग्य होता था, वही उसके सिपुर्द किया जाता था। यही कारण था कि उसकी योजनाएँ कभी विफल न होती थीं। इसी योग्यता की वदौलत वह अमूल्य रत्न उसकी दरवार की शोभा वढ़ा रहे थे जो विक्रमादित्य के नवरत्न को भी मात करते थे। शिकार का वेहद शौक़ था, और हाथियों का तो आशिक़ ही था। संगीत-शास्त्र के तत्त्वों से भी अपरिचित न था। इमारतें वनवाने की ओर भी वहुत ध्यान था और वहुत-से शानदार क़िले और भव्य प्रासाद आज तक उसकी सुरुचि और राजोचित उच्चाकांक्षा के साक्षी-स्वरूप विद्यमान हैं। ईश्वर ने उसे गुण-राशि के साथ-साथ रूप-निधि भी प्रदान की थी। जहाँगीर ने "तुज्के जहाँगीर" में वेटे की मुहव्वत और चित्रकार की क़लम से उसकी तसवीर खींची है, जिसका उलथा पाठकों के मनोरंजन के लिए नीचे दिया जाता है—

"वुलन्दवाला, मँझोला क़द, गेहुआँ रंग, आँखों की पुतलियाँ और भवें स्याह, रंगत गोरी थी पर उसमें फीकापन न था, नमकीनी अधिक थी। सिंह की ऐसी छाती चौड़ी, और उभरी हुई, हाथ और वाँहें लम्वी, वायें नथने पर चने के वरावर एक मस्सा जिसको सामुद्रिक के पंडित वहुत शुभ मानते थें। आवाज़ ऊँची और वोली में एक ख़ास लोच तथा सहज माधुर्य था। सज-धज में साधारण लोगों की उनसे कोई समानता न थी, उनके चेहरे पर सहज तेज विद्यमान था।"

आख़िरी उम्र में कपूत वेटों ने इस देश-भक्त वादशाह को वहुत से दग़ा दिये और इसी दुःख में वह २० जमादी-उल-आख़िर (···सितम्वर सन १६०५ ई०) को वह इस नाशमान् जगत् को छोड़कर परलोक सिधारा और सिकन्दरे के शानदार मक़वरे में अपने उज्ज्वल कीर्ति-कलाप का अमर स्मारक छोड़कर, दफ़न हुआ।

अकबर में यद्यपि चंद्रगुप्त की वीरता और महत्त्वाकांक्षा, अशोक की साधुता और नियम-निष्ठा और विक्रमादित्य की महत्ता तथा गुणज्ञता एकत्र हो गई थी फिर भी जिस महत्कार्य की नींव उसने डाली थी, वह किसी एक आदमी के वस का न था, और चूँकि उसके उत्तराधिकारियों में कोई उसके जैसे विचार रखनेवाला पैदा न हुआ, इसलिए वह पूरी तरह सफल न हो सका। फिर भी उसके सच्ची लगन से प्रेरित प्रयास निष्फल नहीं हुए और यह उन्हीं का सुफल था कि सामयिक अधिकारियों की इस ओर उपेक्षा होते हुए भी हिन्दू मुसलमान कई शताब्दियों तक बहुत ही मेल-मिलाप के साथ रहे। और आज के समय में भी जब बिगाड़-विरोध के सामान सब ओर से जमा होकर और भयावनी बाढ़ का रूप धारण कर राष्ट्रीय नौका को डुबाने के लिए भायँ-भायँ करते बढ़ रहे हैं, यदि कोई आशा है तो उसी के मंगल नाम से, जो हमारे बेड़े को पार लगाने में महामंत्र का काम करेगा। अतः हे हिन्दू मुसलमान भाइयो! मोहनिद्रा को त्याग कर उठो और सिकन्दर की राह लो, जिसमें उनकी पवित्र समाधि पर मुसलमान अगर दो फूल चढ़ायें तो हिन्दू भाइयो, तुम भी थोड़ा पानी डालकर उसकी आत्मा को प्रसन्न कर दिया करो। कोई आश्चर्य नहीं कि उसके आशीर्वाद से हमारे बे-बुनियाद झगड़े और मतभेद मिटकर फिर मेल और एकता की सूरत पैदा हो जाय। खेद और लज्जा की बात है कि ब्रिटिश सरकार परदेशी होते हुए भी अपने को उसका स्थानापन्न और उसके अनुकरण में गौरव माने और तुम अपने देश-भक्त राष्ट्रीय सम्राट् की बहुमूल्य विरासत की ओर आँख उठाकर भी न देखो।

स्वामी विवेकानन्द

कृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है कि जब धर्म का ह्रास और पाप की प्रबलता होती है तब-तब मैं मानव-जाति के कल्याण के लिए अवतार लिया करता हूँ। इस नाशमान् जगत में सर्वत्र सामान्यतः और भारतवर्ष में विशेषतः जब कभी पाप की वृद्धि या और किसी कारण (समाज के) संस्कार या नव-निर्माण की आवश्यकता हुई है तो ऐसे सच्चे सुधारक और पथप्रदर्शक प्रकट हुए हैं, जिनके आत्मबल ने सामयिक परिस्थिति पर विजय प्राप्त की। पुरातनकाल में जब पाप-अनाचार प्रबल हो उठे तो कृष्ण भगवान् आये और अनीति-अत्याचार की आग बुझाई। इसके बहुत दिन बाद जब क्रूरता, विलासिता और स्वार्थपरता का फिर दौरदौरा हुआ तो बुद्ध भगवान् ने जन्म लिया और उनके उपदेशों ने धर्मभाव की ऐसी धारा बहा दी जिसने कई सौ साल तक जड़वाद को सिर न उठाने दिया। पर जब काल-प्रवाह ने इस उच्च आध्यात्मिक शिक्षा की नींव को भी खोखली कर दिया और उसकी आड़ में दंभ-दुराचार ने फिर ज़ोर पकड़ा तो शंकर स्वामी ने अवतार लिया और अपनी वाग्मिता तथा योगबल से धर्म के परदे में होनेवाली सारी बुराइयों की जड़ उखाड़ दी। अनन्तर कबीर साहब और श्री चैतन्यमहाप्रभु प्रकट हुए और अपनी आत्मसाधना का सिक्का लोगों के दिलों पर जमा गये।

ईसा की पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में जड़वाद ने फिर सिर उठाया, और इस बार उसका आक्रमण ऐसा प्रबल था, अस्त्र ऐसे अमोघ और सहायक, ऐसे सबल थे कि भारत के

आत्मवाद को उसके सामने सिर झुका देना पड़ा। और कुछ ही दिनों में हिमालय से लगाकर रासकुमारी तथा अटक से कटक तक उसकी पताका फहराने लगी। हमारी आँखें इस भौतिक प्रकाश के सामने चौंधिया गईं, और हमने अपने प्राचीन तत्त्वज्ञान, प्राचीन शास्त्र-विज्ञान, प्राचीन समाज-व्यवस्था, प्राचीन धर्म और प्राचीन आदर्शों को त्यागना आरम्भ कर दिया। हमारे मन में दृढ़ धारणा हो गई कि हम बहुत दिनों से मार्ग-भ्रष्ट हो रहे थे और आत्मा-परमात्मा की बातें निरी ढकोसला हैं। पुराने जमाने में भले ही उनसे कुछ लाभ हुआ हो, पर वर्तमान काल के लिए वह किसी प्रकार उपयुक्त नहीं और इस रास्ते से हटकर हमने नये राज-मार्ग को न पकड़ा तो कुछ ही दिनों में धरा-धाम से लुप्त हो जायेंगे। ऐसे समय पुनीत भारत-भूमि में पुनः एक महापुरुष का आविर्भाव हुआ। जिसके हृदय में अध्यात्म-भाव का सागर लहरा रहा था, जिसके विचार ऊँचे और दृष्टि दूरगामिनी थी, जिसका हृदय मानव-प्रेम से ओत-प्रोत था; उसकी सचाई भरी ललकार ने क्षण-भर में जड़वादी संसार में हल-चल मचा दी। उसने नास्तिक्य के गढ़ में घुसकर साबित कर दिया कि तुम जिसे प्रकाश समझ रहे हो, वह वास्तव में अंधकार है, और यह सभ्यता जिस पर तुमको इतना गर्व है, सच्ची सभ्यता नहीं। इस सच्चे विश्वास के बल से भरे हुए भाषण ने भारत पर भी जादू का असर किया और जड़वाद के प्रखर प्रवाह ने अपने सामने ऐसी ऊँची दीवार खड़ी पाई, जिसकी जड़ को हिलाना या जिसके ऊपर से निकल जाना उसके लिए असाध्य कार्य था। आज अपनी समाज-व्यवस्था, अपने वेद-शास्त्र, अपने रीति-व्यवहार और अपने धर्म को हम आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह उसी पूतात्मा के उपदेशों का सुफल है कि हम अपने प्राचीन आदर्शों की पूजा करने को प्रस्तुत हैं, और यूरोप के वीर-पुरुष और योद्धा, विद्वान और दार्शनिक हमें अपने पंडितों, मनिषियों के सामने निरे बच्चे

मालूम होते हैं। आज हम किसी बात को चाहे वह धर्म और समाज-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती हो या ज्ञान-विज्ञान से, केवल इसलिए मान लेने को तैयार नहीं हैं कि यूरोप में उसका चलन है। किन्तु उसके लिए हम अपने धर्म-ग्रन्थों और पुरातन पूर्वजों का मत जानने का यत्न करते और उनके निर्णय को सर्वोपरि मानते हैं। और यह सब ब्रह्म-लीन स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक उपदेशों का ही चमत्कार है।

स्वामी विवेकानन्दजी का जीवन-वृत्तान्त बहुत संक्षिप्त है। दुःख है कि आप भरी जवानी में ही इस दुनिया से उठ गये और आपके महान् व्यक्तित्व से देश और जाति को जितना लाभ पहुँच सकता था, न पहुँच सका। १८६३ ई० में वह एक प्रतिष्ठित कामराय कुल में उत्पन्न हुए। बचपन से ही होनहार दिखाई देते थे। अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा पाई और १८८४ ई० में बी० ए० की डिग्री हासिल की। उस समय उनका नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। कुछ दिनों तक ब्राह्म-समाज के अनुयायी रहे। नित्य प्रार्थना में सम्मिलित होते और चूँकि गला बहुत ही अच्छा पाया था, इसलिए कीर्तन-समाज में भी शरीक हुआ करते थे। पर ब्राह्म-समाज के सिद्धान्त उनकी प्यास न बुझा सके। धर्म उनके लिए केवल किसी पुस्तक से दो-चार श्लोक पढ़ देने, कुछ विधि-विधानों का पालन कर देने और गीत गाने का नाम नहीं हो सकता था। कुछ दिनों तक सत्य की खोज में इधर-उधर भटकते रहे। उन दिनों स्वामी रामकृष्ण परमहंस के प्रति लोगों को बड़ी श्रद्धा थी। नवयुवक नरेन्द्रनाथ ने भी उनके सत्संग से लाभ उठाना आरम्भ किया और धीरे-धीरे उनके उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि उनकी भक्त-मण्डली में सम्मिलित हो गये और उस सच्चे गुरु से अध्यात्म तत्त्व और वेदान्तरहस्य स्वीकार कर अपनी जिज्ञासा तृप्त की। परमहंसजी के देह-त्याग के बाद नरेन्द्र ने कोट-पतलून उतार फेंका और संन्यास ले लिया। उस समय से आप विवेका-

नन्द नाम से प्रसिद्ध हुए। उनकी गुरु-भक्ति गुरुपूजा की सीमा तक पहुँच गई थी। जब कभी आप उनकी चर्चा करते हैं तो एक-एक शब्द से श्रद्धा और सम्मान टपकता है। 'मेरे गुरुदेव' के नाम से उन्होंने न्यूयार्क में एक विद्वत्तापूर्ण भाषण किया जिसमें परमहंसजी के गुणों का गान बड़ी श्रद्धा और उत्साह के स्वर में किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने गुरुदेव के प्रथम दर्शन का वर्णन इस प्रकार किया है—

'देखने में वह बिलकुल साधारण आदमी मालूम होते थे। उनके रूप में कोई विशेषता न थी। बोली बहुत सरल और सीधी थी। मैंने मन में सोचा कि क्या यह सम्भव है कि यह सिद्ध पुरुष हों। मैं धीरे-धीरे उनके पास पहुँच गया और उनसे वह प्रश्न पूछे जो मैं अक्सर औरों से पूछा करता था।—"महाराज, क्या आप ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं?" उन्होंने जवाब दिया—'हाँ'। मैंने फिर पूछा—"क्या आप उसका अस्तित्व सिद्ध भी कर सकते हैं?" जवाब मिला—'हाँ'। मैंने पूछा 'क्योंकर?' उत्तर मिला—"मैं उसे ठीक वैसे ही देखता हूँ जैसे तुमको।"

परमहंसजी की वाणी में कोई वैद्युतिक शक्ति थी जो संशयात्मा को तत्क्षण ठीक रास्ते पर लगा देती थी। और यही प्रभाव स्वामी विवेकानन्द की वाणी और दृष्टि में भी था। हम कह चुके हैं कि परमहंसजी के परमधाम सिधारने के बाद स्वामी विवेकानन्द ने संन्यास ले लिया। उनकी माता उच्चाकांक्षिणी स्त्री थीं। उनकी इच्छा थी कि मेरा लड़का वकील हो, अच्छे घर में उसका ब्याह हो, और दुनिया के सुख भोगे। उनके संन्यास-धारण के निश्चय का समाचार पाया तो परमहंसजी की सेवा में उपस्थित हुई और बड़ी अनुनय-विनय की कि मेरे बेटे को जोग न दीजिए, पर जिस हृदय ने शाश्वत प्रेम और आत्मानुभूति के आनन्द का

स्वाद पा लिया हो उसे लौकिक सुख-भोग कब अपनी ओर खींच सकते हैं। परमहंसजी कहा करते थे कि जो आदमी दूसरों को आध्यात्मिक उपदेश देने की आकांक्षा करे, उसे पहले स्वयं उस रंग में डूब जाना चाहिए। इस आदेश के अनुसार स्वामीजी हिमालय पर चले गये और वहाँ पूरे ९ साल तक तपस्या और चित्त-शुद्धि की साधना में लगे रहे। बिना खाये, बिना सोये, एकदम नग्न और एकदम अकेले सिद्ध महात्माओं की खोज में ढूँढ़ते और उनके सत्संग से लाभ उठाते रहते थे। कहते हैं कि परम तत्त्व की जिज्ञासा उन्हें तिब्बत खींच ले गयी जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और साधन-प्रणाली का समीक्षक बुद्धि से अध्ययन किया। स्वामीजी ख़ुद फरमाते हैं कि मुझे दो-दो तीन-तीन दिन तक खाना न मिलता था, अकसर ऐसे स्थान पर नंगे बदन सोया हूँ जहाँ कि सर्दी का अन्दाज़ा थर्मामेटर भी नहीं लगा सकता। कितनी ही बार शेर, बाघ और दूसरे शिकारी जानवरों का सामना हुआ। पर राम के प्यारे को इन बातों का क्या डर!

स्वामी विवेकानन्द हिमालय में थे जब उन्हें प्रेरणा हुई कि अब तुम्हें अपने गुरुदेव के आदेश का पालन करना चाहिए। अतः वह पहाड़ से उतरे और बंगाल, संयुक्तप्रांत, राजपूताना, बम्बई आदि में रेल से और अकसर पैदल भी भ्रमण करते, किन्तु जो जिज्ञासु जन श्रद्धा-वश उनकी सेवा में उपस्थित होते थे उन्हें धर्म और नीति के तत्त्वों का उपदेश करते थे। जिसे विपद्-ग्रस्त देखते उसको सांत्वना देते। मद्रास उस समय नास्तिकों और जड़वादियों का केन्द्र बन रहा था। अंग्रेजी विश्वविद्यालयों से निकले हुए नवयुवक जो अपने धर्म और समाज-व्यवस्था के ज्ञान से बिलकुल कोरे थे, खुलेआम ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार किया करते थे। स्वामीजी यहाँ अरसे तक टिके रहे और कितने ही होनहार नौजवानों को धर्म-परिवर्तन से रोका तथा जड़वाद के जाल से बचाया। कितनी ही बार लोगों ने उनसे वाद-विवाद

किया। उनकी खिल्ली उड़ाई, पर वह अपने वेदान्त के रंग में इतना डूबे हुए थे कि उन्हें किसी की हँसी-मज़ाक की तनिक भी परवाह न थी। धीरे-धीरे उनकी ख्याति नवयुवक-मण्डली से बाहर निकलकर कस्तूरी की गंध की तरह चारों ओर फैलने लगी। बड़े-बड़े धनी मानी लोग भक्त और शिष्य बन गये और उनसे नीति तथा वेदान्त-तत्त्व के उपदेश लिये। जस्टिस सुब्रह्मण्यम् ऐयर, महाराजा रामनद (मद्रास) और महाराजा खेतड़ी (राजपूताना) उनके प्रमुख शिष्यों में थे।

स्वामीजी मद्रास में थे जब अमरीका में सर्व-धर्म सम्मेलन के आयोजन का समाचार मिला। वह तुरत उसमें सम्मिलित होने को तैयार हो गये। और उनसे बड़ा ज्ञानी तथा वक्ता और था ही कौन? भक्त-मण्डली की सहायता से आप इस पवित्र यात्रा पर रवाना हो गये। आपकी यात्रा अमरीका के इतिहास की यह अमर घटना है। यह पहला अवसर था कि कोई पश्चिमी जाति दूसरी जातियों के धर्म-विश्वासों की समीक्षा और स्वागत के लिए तैयार हुई हो। रास्ते में स्वामीजी ने चीन और जापान का भ्रमण किया और जापान के सामाजिक जीवन से बहुत प्रभावित हुए, वहाँ से एक पत्र में लिखते हैं—

'आओ, इन लोगों को देखो और जाकर शर्म से मुँह छिपा लो! आओ मर्द बनो! अपने संकीर्ण बिलों से बाहर निकलो और ज़रा दुनिया की हवा खाओ।'

अमरीका पहुँचकर उन्हें मालूम हुआ कि अभी सम्मेलन होने में बहुत देर है। यह दिन उनके बड़े कष्ट में बीते। अकिंचनता की यह दशा थी कि पास में ओढ़ने-बिछाने तक को काफी न था। पर उनकी सन्तोष-वृत्ति इन सब कष्ट-कठिनाइयों पर विजयी हुई। अन्त में बड़ी प्रतीक्षा के बाद नियत तिथि आ पहुँची। दुनिया के विभिन्न धर्मों ने अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे थे, और यूरोप के बड़े-बड़े पादरी और धर्म-शास्त्र के अध्यापक,

आचार्य हज़ारों की संख्या में उपस्थित थे, ऐसे महा सम्मेलन में एक अकिंचन, असहाय नवयुवक का कौन पुछैया था, जिसकी देह पर साबित कपड़े भी न थे। पहले तो किसी ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया, पर सभापति ने बड़ी उदारता के साथ उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और वह समय आ गया कि स्वामीजी श्रीमुख से कुछ कहें। उस समय तक उन्होंने किसी सार्वजनिक सभा में भाषण न किया था। एकबारगी ८-१० हजार विद्वानों और समीक्षकों के सामने खड़े होकर भाषण करना कोई हँसी खेल न था। मानव-स्वभाव-वश क्षणभर स्वामीजी को भी घबराहट रही, पर केवल एक बार तबियत पर ज़ोर डालने की ज़रूरत थी। स्वामीजी ने ऐसी पाण्डित्य-पूर्ण, ओजस्वी और धारा-प्रवाह वक्तृता की कि श्रोतृमण्डली मंत्र-मुग्ध-सी हो गई। यह असभ्य हिन्दू, और ऐसा विद्वत्ता-पूर्ण भाषण! किसी को विश्वास न होता था। आज भी उस वक्तृता को पढ़ने से भावावेश की अवस्था हो जाती है, वक्तृता क्या है, भगवद्गीता और उपनिषदों के ज्ञान का निचोड़ है। पश्चिमवालों को आपने पहली बार सुझाया कि धर्म के विषय में निष्पक्ष उदार भाव रखना किसको कहते हैं। और धर्मवालों के विपरीत आपने किसी धर्म की निंदा न की और पश्चिमवालों की जो बहुत दिनों से यह धारणा हो रही थी कि हिन्दू तअस्सुब के पुतले हैं, वह एक दम दूर हो गई। वह भाषण ऐसा ज्ञान-गर्भ और अर्थ-भरा है कि उसका खुलासा करना, असंभव है, पर उसका निचोड़ यह है—

हिन्दू धर्म का आधार किसी विशेष सिद्धान्त को मानना या कुछ विशेष विधि-विधानों का पालन करना नहीं है। हिन्दू का हृदय शब्दों और सिद्धान्तों से तृप्ति लाभ नहीं कर सकता। अगर कोई ऐसा लोक है जो हमारी स्थूल दृष्टि के अगोचर है, तो हिन्दू उस दुनिया की सैर करना चाहता है, अगर कोई ऐसी सत्ता है, जो भौतिक नहीं है, कोई ऐसी सत्ता है जो न्याय-रूप,

दया-रूप और सर्वशक्तिमान है, तो हिन्दू उसे अपनी अन्तर्दृष्टि से देखना चाहता है। उसके संशय तभी छिन्न होते हैं जब वह इन्हें देख लेता है।'

आपने पाश्चात्यों को पहली बार सुनाया कि विज्ञान के वह सिद्धान्त जिनका उनको गर्व है और जिनका धर्म से सम्बन्ध नहीं, हिन्दुओं को अति प्राचीन काल से विदित थे और हिन्दू धर्म की नींव उन्हीं पर खड़ी है। और जहाँ अन्य धर्मों का आधार कोई विशेष व्यक्ति या उसके उपदेश हैं, हिन्दू धर्म का आधार शाश्वत, सनातन सिद्धान्त हैं। और यह इस बात का प्रमाण है कि वह न कभी विश्व-धर्म बनेगा। कर्म को केवल कर्तव्य समझकर करना उसमें फल या सुख-दुःख की भावना न रखना ऐसी बात थी, जिससे पश्चिमवाले अब तक सर्वथा अपरिचित थे। स्वामीजी के ओजस्वी भाषणों और सचाई भरे उपदेशों से लोग इतने प्रभावित हुए कि अमरीका के अखबार बड़ी श्रद्धा और सम्मान के शब्दों में स्वामीजी की बड़ाई छापने लगे। उनकी वाणी में वह दिव्य-प्रभाव था कि सुननेवाले आत्म-विस्मृत हो जाते।

भक्तों की संख्या दिन-दिन बढ़ने लगी। चारो ओर से जिज्ञासुजन उनके पास पहुँचने और अपने-अपने नगर में पधारने का अनुरोध करते। स्वामीजी को अकसर दिन-दिन भर दौड़ना पड़ता। बड़े-बड़े प्रोफ़ेसरों और विद्वानों ने आकर उनके चरण छुए और उनके उपदेशों को हृदय में स्थान दिया।

स्वामीजी अमरीका में क़रीब ३ साल के रहे और इस बीच श्रम और शरीर-कष्ट की तनिक भी परवाह न कर अपने गुरुदेव के आदेश के अनुसार वेदान्त का प्रचार करते रहे। इसके बाद आपने इंगलैण्ड की यात्रा की। आपकी ख्याति वहाँ पहले ही पहुँच चुकी थी। अंग्रेजों को जो नास्तिकता और जड़ पूजा में दुनिया में सबसे आगे बढ़े हुए हैं, आकृष्ट करने में पहले आपको

बहुत कष्ट करना पड़ा, पर आपका अद्भुत अध्यवसाय और प्रबल संकल्प-शक्ति अन्त में इन सब बाधाओं पर विजयी हुई, और आपकी वक्तृताओं का जादू अंग्रेजों पर भी चल गया। ऐसे-ऐसे वैज्ञानिक जिन्हें खाने के लिए भी प्रयोगशाला के बाहर निकलना कठिन था, आपका भाषण सुनने के लिए घण्टों पहले सभा में पहुँच जाते और प्रतीक्षा में बैठे रहते। आपने वहाँ तीन बड़े मारके के भाषण किये और आप की वाग्मिता तथा विद्वत्ता का सिक्का सबके दिलों पर बैठ गया। सब पर प्रकट हो गया कि जड़वाद में यूरोप चाहे भारत से कितना ही आगे क्यों न हो, पर अध्यात्म और ब्रह्म-ज्ञान का मैदान हिन्दुस्तानियों का ही है। आप करीब एक साल तक रहे और अनेकानेक सभा-समितियों, कालिजों और क्लब-घरों से आपके पास निमंत्रण आते थे, पर वेदान्त के प्रचार का कोई भी अवसर आप हाथ से न जाने देते। आपकी ओजमयी वक्तृताओं का यह प्रभाव हुआ कि बिशपों और पादरियों ने गिरजों में वेदान्त पर भाषण किये।

एक दिन एक संभ्रान्त महिला के मकान पर लंदन के अध्यापकों की सभा होनेवाली थी। श्रीमतीजी शिक्षा-विषय पर बड़ा अधिकार रखती थीं। और उनका भाषण सुनने तथा उस पर बहस की इच्छा से बहुत-से विद्वान् एकत्र हुए थे। संयोगवश श्रीमतीजी की तबीयत कुछ ख़राब हो गई। स्वामीजी वहाँ विद्यमान थे। लोगों ने प्रार्थना की कि आप ही कुछ फ़रमायें। स्वामीजी उठ खड़े हुए और भारत की शिक्षा-प्रणाली पर पाण्डित्य-पूर्ण भाषण किया। उन विद्याव्यवसायियों को कितना आश्चर्य हुआ जब स्वामीजी के श्रीमुख से सुना कि भारत में विद्यादान सब दानों से श्रेष्ठ माना गया है और भारतीय गुरु अपने विद्यार्थियों से कुछ लेता नहीं; बल्कि उन्हें अपने घर पर रखता है और उनको विद्यादान के साथ-साथ भोजन-वस्त्र भी देता है।

धीरे-धीरे यहाँ भी स्वामीजी की भक्त-मण्डली काफ़ी बड़ी

हो गई। बहुत से लोग जो अपनी रुचि का आध्यात्मिक भोजन न पाकर धर्म से विरक्त हो रहे थे, वेदान्त पर लट्टू हो गये, और स्वामी जी में उनकी इतनी श्रद्धा हो गई कि यहाँ से जब वह चले तो उनके साथ कई अंग्रेज़ शिष्य थे। जिनमें कुमारी नोबल भी थीं, जो बाद को भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं। स्वामीजी ने अंग्रेज़ों की रहन-सहन और चरित्र स्वभाव को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा, समझा। इस अनुभव की चर्चा करते हुए एक भाषण में आपने कहा कि यह क्षत्रियों और वीर पुरुषों की जाति है।

१६ दिसम्बर १८९६ ई० को स्वामीजी कई अंग्रेज़ चेलों के साथ प्रिय स्वदेश को रवाना हुए। भारत के छोटे-बड़े सब लोग आपकी उज्ज्वल विरुदावली को सुन-सुनकर आपके दर्शन के लिए उत्कंठित हो रहे थे। आपके स्वागत और अभ्यर्थना के लिए नगर-नगर में कमेटियाँ बनने लगीं। स्वामीजी जब जहाज से कोलम्बो में उतरे तो, जन साधारण ने जिस उत्साह और उल्लास से आपका स्वागत किया, वह एक दर्शनीय दृश्य था। कोलम्बो से अलमोड़ा तक जिस-जिस नगर में आप पधारे, लोगों ने आपकी राह में आँखें बिछा दीं। अमीर-ग़रीब छोटे-बड़े सबके हृदय में आपके लिए एक-सा आदर-सम्मान था। यूरोप में बड़े विजेताओं की जो अभ्यर्थना हो सकती है, उससे कई गुना अधिक भारत में स्वामीजी की हुई। आपके दर्शन के लिए लाखों की भीड़ जमा हो जाती थी, और लोग आपको एक नज़र देखने के लिए मंज़िलें तै करके आते थे। क्योंकि भारतवर्ष लाख गया-बीता है, फिर भी एक सच्चे सन्त और महात्मा का जैसा कुछ आदर-सम्मान भारतवासी कर सकते हैं और किसी देश में संभव नहीं। यहाँ मन को जीतने और हृदयों को वश में करनेवाले विजेता का देश को जीतने और मानव प्राणियों का रक्त बहानेवाले विजेता से कहीं अधिक आदर-सम्मान होता है।

हर शहर में जनसाधारण की ओर से आपके कार्यों की

बड़ाई और कृतज्ञता प्रकाश करनेवाले मानपत्र दिये गये, कुछ बड़े शहरों में तो पन्द्रह-पन्द्रह बीस-बीस मानपत्र तक दिये गये और आपने उनके उत्तर में देश-वासियों को देश-भक्ति के उत्साह तथा अध्यात्म-तत्त्व से भरी हुई वक्तृताएँ सुनाईं। मद्रास में आपके स्वागत के लिए १७ आलीशान फाटक बनाये गये थे। महाराजा रामनद ने जिनकी सहायता से स्वामीजी अमरीका गये थे, इस समय बड़े उत्साह और उदारता के साथ आपके स्वागत का आयोजन किया। मद्रास के विभिन्न स्थानों में घूमते और अपने अमृत उपदेशों से लोगों को तृप्त आह्लादित करते हुए २८ फरवरी को स्वामीजी कलकत्ते पधारे। यहाँ आपके स्वागत-अभिनंदन के लिए लोग पहले ही से अधीर हो रहे थे। जिस समय आपको मान-पत्र दिया गया, सभा में ५ हज़ार से अधिक लोग उपस्थित थे। राजा विनयकृष्ण बहादुर ने स्वयं, मानपत्र पढ़ा, जिसमें स्वामीजी के भारत का गौरव बढ़ानेवाले कार्यों का बखान किया गया था।

कलकत्ते में स्वामीजी ने एक अति पाण्डित्य-पूर्ण भाषण किया। पर अध्यापन और उपदेस में अत्यधिक श्रम करने के कारण आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया और जलवायु-परिवर्तन के लिए आपको दार्जिलिङ्ग जाना पड़ा। वहाँ से अलमोड़ा गये। पर स्वामीजी ने तो वेदान्त के प्रचार का व्रत ले रखा था, उनको बेकारी में कब चैन आ सकता था। ज्यों ही तबियत ज़रा सँभली, स्यालकोट पधारे और वहाँ से लाहौरवालों की भक्ति ने अपने यहाँ खींच बुलाया। इन दोनों स्थानों में आपका बड़े उत्साह से स्वागत-सत्कार हुआ और अपनी-अपनी अमृत-वाणी से श्रोताओं के अन्तःकरणों में ज्ञान की ज्योति जगा दी। लाहौर से आप काश्मीर गये और वहाँ से राजपूताने का भ्रमण करते हुए कलकत्ते लौट आये। इस बीच आपने दो मठ स्थापित कर दिये थे। इसके कुछ दिन बाद रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। जिसका उद्देश्य

लोक-सेवा है और जिसकी शाखाएँ भारत के हर भाग में विद्यमान है तथा जनता का अमित उपकार कर रही हैं।

१८९७ ई० का साल सारे हिन्दुस्तान के लिए बड़ा मनहूस था। कितने ही स्थानों में प्लेग का प्रकोप था और अकाल भी पड़ रहा था। लोग भूख और रोग से काल का ग्रास बनने लगे। देश-वासियों को इस विपत्ति में देखकर स्वामीजी कैसे चुप बैठ सकते थे। अपने लाहौरवाले भाषण में कहा था—

'साधारण मनुष्य का धर्म यही है कि साधु-संन्यासियों और दीन-दुखियों को भरपेट भोजन करायें। मनुष्य का हृदय ईश्वर का सबसे बड़ा मन्दिर है, और इसी मन्दिर में उसकी आराधना करनी होगी।'

फलतः आपने बड़ी सरगरमी से ख़ैरातख़ाने खोलना आरम्भ किया। स्वामी रामकृष्ण ने देश-सेवा-व्रती संन्यासियों की एक छोटी-सी मण्डली बना दी थी। यह सब स्वामीजी के निरीक्षण में तन-मन से दीन-दुखियों की सेवा में लग गये। मुर्शिदाबाद, ढाका, कलकत्ता, मद्रास आदि में सेवाश्रम खोले गये। वेदान्त के प्रचार के लिए जगह-जगह विद्यालय भी स्थापित किये गये। कई अनाथालय भी खुले। और यह सब स्वामीजी के सदुद्योग का सुफल था। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ रहा था, फिर भी वह स्वयं घर-घर घूमते और पीड़ितों को आश्वासन तथा आवश्यक सहायता देते-दिलाते, प्लेग-पीड़ितों की सहायता करना जिनसे डाक्टर लोग भी भागते थे, कुछ इन्हीं देश-भक्तों का काम था।

उधर इंगलैण्ड और अमरीका में भी वह पौधा बढ़ रहा था, जिसका बीज स्वामीजी ने बोया था। दो संन्यासी अमरीका में और एक इंगलैण्ड में वेदान्त प्रचार में लगे हुए थे, और प्रेमियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती थी।

स्वामीजी का स्वास्थ्य जब बहुत अधिक बिगड़ गया तो आपने लाचार हो इंगलैण्ड की दूसरी यात्रा की और वहाँ कुछ

दिन ठहरकर अमरीका चले गये। वहाँ आपका बड़े उत्साह से स्वागत हुआ। दो बरस पहले जिन लोगों ने आपके श्रीमुख से वेदान्त दर्शन पर जोरदार वक्तृताएँ सुनी थीं, वह अब पक्के वेदांती हो गये थे। स्वामीजी के दर्शन से उनके हर्ष की सीमा न रही। यहाँ का जलवायु स्वामीजी के लिए लाभजनक सिद्ध हुआ और कठिन श्रम करते रहने पर भी कुछ दिन में आप फिर स्वस्थ हो गये। धीरे-धीरे हिन्दू दर्शन के प्रेमियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि स्वामीजी दिन-रात श्रम करके भी उनकी पिपासा तृप्त न कर सकते थे। अमरीका जैसे व्यापारी देश में एक हिन्दू संन्यासी का भाषण सुनने के लिए दो-दो हज़ार आदमियों का जमा हो जाना कोई साधारण बात नहीं है। अकेले सान फ्रांसिस्को नगर में आपने हिन्दू दर्शन पर पूरे पचास व्याख्यान दिये। श्रोताओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती गई और अध्यात्म-तत्त्व के प्रेमियों की तृप्ति केवल दार्शनिक व्याख्यान सुनने से न होती थी। साधन और योगाभ्यास की आकांक्षा भी उसके हृदयों में जगी। स्वामीजी ने उनकी सहायता से सान फ्रांसिस्को में 'वेदान्त सोसायटी' और शान्ति-आश्रम स्थापित किया और दोनों पौधे आज तक हरे-भरे हैं। शान्ति-आश्रम नगर के कोलाहल से दूर एक परम रमणीय स्थान पर स्थित है और उसका घेरा लगभग २०० एकड़ है। यह आश्रम एक उदार धर्मानुरागिनी महिला की वदान्यता का स्मारक है।

स्वामीजी न्यूयार्क में थे कि पेरिस में विभिन्न धर्मों का सम्मेलन करने की आयोजना हुई, और आपको भी निमन्त्रण मिला। उस समय तक आपने फ्रांसीसी भाषा में कभी भाषण न किया था। यह निमंत्रण पाके ही उसके अभ्यास में जुट गये। और अपने आत्मबल से दो महीने में ही उस पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया कि देखनेवाले दङ्ग हो जाते थे। पेरिस में आपने हिन्दू दर्शन पर दो व्याख्यान दिये, पर चूँकि यह केवल निबन्ध

पढ़नेवालों का सम्मेलन था, और इसका उद्देश्य सत्य की खोज नहीं, किन्तु पेरिस की प्रदर्शनी की शोभा बढ़ाना था, इसलिए फ्रांस में स्वामीजी को सफलता न हुई।

अन्त में अत्यधिक श्रम के कारण स्वामीजी का शरीर बिलकुल गिर गया। यों ही बहुत कमजोर हो रहे थे, पेरिस सम्मेलन की तैयारी ने और भी कमजोर बना दिया। अमरीका, इंगलैण्ड और फ्रांस की यात्रा करते हुए जब आप स्वदेश लौटे तो देह में हड्डियाँ भर रह गई थीं और इतनी शक्ति न थी कि सार्वजनिक सभाओं में भाषण कर सकें। डाक्टरों की कड़ी ताकीद थी कि आप कम से कम दो साल तक पूर्ण-विश्राम करें। पर जो हृदय अपने देशवासियों के दुःख देखकर गल जाता हो, और जिसमें उनकी भलाई की धुन समाई हो, जिसमें यह लालसा हो कि आज की धन और बल से हीन हिन्दू जाति फिर पूर्वकाल की सबल, समृद्ध और आत्मशालिनी आर्य जाति बने, उससे यह कब हो सकता था कि एक क्षण के लिए भी आराम कर सके। कलकत्ते पहुँचते ही, कुछ ही दिन के बाद आप आसाम की ओर रवाना हुए और अनेक सभाओं में वेदान्त का प्रचार किया। कुछ तो स्वास्थ्य पहले से ही बिगड़ा हुआ था। कुछ उधर का जलवायु भी प्रतिकूल सिद्ध हुआ। आप फिर कलकत्ते लौटे। दो महीने तक हालत बहुत नाजुक रही। फिर बिलकुल तन्दुरुस्त हो गये।

इन दिनों आप अक्सर कहा करते थे कि अब दुनिया में मेरा काम पूरा हो चुका। पर चूँकि उस काम को जारी रखने के लिए जितेन्द्रिय, निःस्वार्थ और आत्मबल-सम्पन्न संन्यासियों की अत्यन्त आवश्यकता थी; इसलिए अपने बहुमूल्य जीवन में शेष मास आपने अपनी शिष्य-मण्डली की शिक्षा और उपदेश में लगाये। आपका कथन था कि शिक्षा का उद्देश्य पुस्तक पढ़ाना नहीं है, किन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाना है। इन दिनों आप अक्सर समाधि की अवस्था में रहा करते थे और अपने भक्तों से

कहा करते थे कि अब मेरे महाप्रस्थान का समय बहुत समीप है। ४ जुलाई १९०२ को यकायक आप समाधिस्थ हो गये। इस समय आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। सवेरे दो घण्टे समाधि में रहते थे, दोपहर को शिष्यों को पाणिनीय व्याकरण पढ़ाया था और तीसरे पहर दो घण्टे तक वेदोपदेश करते रहे। इसके बाद टहलने को निकले। शाम को लौटे तो थोड़ी देर माला जपने के बाद फिर समाधिस्थ हो गये और इसी रात को पंचभौतिक शरीर का त्याग कर परमधाम को सिधार गये। यह दुर्बल पार्थिव देह आत्म-साक्षात्कार की दिव्यानुभूति को न सह सकी। पहले लोगों ने इस अवस्था को समाधिमात्र समझा और एक संन्यासी ने आपके कान में परमहंसजी का नाम सुनाया, पर जब इसका कुछ असर न हुआ तब लोगों को विश्वास हो गया कि आप ब्रह्मलीन हो गये। आपके चेहरे पर तेज था और अधखुली आँखें आत्म-ज्योति से प्रकाशित थीं। इस हृदय-विदारक समाचार को सुनते ही सारे देश में कोलाहल मच गया और दूर-दूर से लोग आपके अन्तिम दर्शन के लिए कलकत्ते पहुँचे। अन्त में दूसरे दिन दो बजे के समय गंगा-तट पर आपकी दाह-क्रिया हुई, परमहंसजी की भविष्य-वाणी थी कि मेरे इस शिष्य के जीवन का उद्देश्य जब पूरा हो जायगा तब वह भरी जवानी में इस दुनियां से चल देगा। वह अक्षरशः सत्य निकली।

स्वामीजी का रूप बड़ा सुन्दर और भव्य था। शरीर सबल और सुदृढ़ था। वज़न दो मन से ऊपर था। दृष्टि में बिजली का असर था और मुखमण्डल पर आत्मतेज का आलोक। आपकी दयालुता की चर्चा ऊपर कर चुके हैं। कड़ी बात शायद ज़बान से एक बार भी न निकली हो। विश्वविख्यात और विश्ववन्द्य होते हुए भी स्वभाव अति सरल और व्यवहार अति विनम्र था। उनका पाण्डित्य अगाध, असीम था। अंग्रेजी के पूर्ण पण्डित और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे। संस्कृत, साहित्य और

दर्शन के पारगामी विद्वान् और जर्मन, हिब्रू, ग्रीक, फ्रेंच आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार रखते थे। कठोर श्रम तो आपका स्वभाव ही था। केवल चार घण्टे सोते थे। चार बजे तड़के उठकर जप-ध्यान में लग जाते। प्राकृतिक दृश्यों के बड़े प्रेमी थे। भोर में जप-तप से निवृत्त होकर मैदान में निकल जाते और प्रकृति-सुषमा का आनन्द लेते। पालतू पशुओं को प्यार करते और उनके साथ खेलते। अपने गुरुदेव की अन्त समय तक पूजा करते रहे। स्वर में बड़ा माधुर्य और प्रभाव था, श्रीरामकृष्ण परमहंस कभी-कभी आपसे भजन गाने की फरमाइश किया करते थे और उससे इतने प्रभावित होते कि आत्म-विस्मृत-से हो जाते। मीराबाई और तानसेन के प्रेम भरे गीत आपको बहुत प्रिय थे। वाणी में वह प्रभाव था कि वक्तृताएँ श्रोताओं के हृदयों पर पत्थर की लकीर बन जातीं। कहने का ढंग और भाषा बहुत सरल होती थी, पर उन सीधे-साधे शब्दों में कुछ ऐसा आध्यात्मिक भाव-भरा होता था कि सुननेवाले तल्लीन हो जाते थे, आप सच्चे देशभक्त थे, राष्ट्र पर अपने को उत्सर्ग कर देने की बात आपसे अधिक शायद ही और किसी के लिए सही हो सकती हो। देश-भक्ति का ही उत्साह आपको अमरीका ले गया था। अपने विपद्ग्रस्त राष्ट्र और अपने प्राचीन साहित्य तथा दर्शन का गौरव दूसरे राष्ट्रों की दृष्टि में स्थापित करना, ब्रह्मचारियों को शिक्षा देना, अपने पीड़ित देश-वासियों के लिए जगह-जगह खैरात-खाने खुलवाना—यह सब आपके सच्चे देश-प्रेम के स्मारक हैं. आप केवल महर्षि ही न थे, ऐसे देशभक्त भी थे जिसने देश पर अपने आपको मिटा दिया हो। एक भाषण में फरमाते हैं—

> 'मेरे नौजवान दोस्तो! बलवान बनो! तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है। तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पुट्ठे अधिक दृढ़ होंगे तो

तुम भगवद्गीता के उपदेशों पर अधिक अच्छी तरह चल सकते हो। गीता का उपदेश कायरों को नहीं दिया गया था, किन्तु अर्जुन को दिया गया था जो बड़ा शूरवीर पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था। कृष्ण भगवान के उपदेश और अलौकिक शक्ति को तुम भी समझ सकोगे जब तुम्हारी रगों में खून कुछ और तेजी से दौड़ेगा।'

एक दूसरे व्याख्यान में उपदेश देते हैं—

'यह समय आनन्द में भी आँसू बहाने का नहीं। हम रो तो बहुत चुके। अब हमारे लिए नरक बनाने की आवश्यकता नहीं। इस कोमलता ने हमें इस हद तक पहुँचा दिया है कि हम रुई का गाला बन गये हैं। अब हमारे देश और जाति को जिन चीज़ों की ज़रूरत है, वह है—लोहे के हाथ-पैर और फ़ौलाद के सारे पट्ठे और वह दृढ़-सङ्कल्प-शक्ति जिसे दुनिया की कोई वस्तु रोक नहीं सकती, जो प्रकृति में रहस्यों की तह तक पहुँच जाती है और अपने लक्ष्य से कभी विमुख नहीं होती, चाहे उस समुद्र की तह में जाना या मृत्यु का सामना क्यों न करना पड़े। महत्ता का मूल मन्त्र विश्वास है—दृढ़ और अटल विश्वास—अपने आप और सर्व-शक्तिमान जगदीश्वर पर विश्वास।'

स्वामीजी को अपने ऊपर ज़बरदस्त विश्वास था। स्वयं उन्हीं का कथन है—

"गुरुदेव के गले में एकाएक फोड़ा निकल आया था। धीरे-धीरे उसने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि कलकत्ते के सुप्रसिद्ध डाक्टर बाबू महेन्द्रलाल सरकार बुलाये गये। उन्होंने परमहंसजी की हालत देखकर निराशा जताई और चलते समय शिष्यों से कहा कि यह रोग संक्रामक है, इस लिए इससे बचते रहो, और गुरुजी के पास बहुत देर तक न ठहरा करो। यह सुनकर शिष्यों के होश उड़ गये और आपस

में कानाफूसी होने लगी। मैं उस समय कहीं गया हुआ था। लौटा तो अपने गुरुभाइयों को अति भयभीत पाया। कारण मालूम होते ही मैं सीधे गुरुदेव के कमरे में चला गया। वह प्याली जिसमें उनके गले से निकला हुआ मवाद रखा हुआ था, उठा ली, और सब शिष्यों के सामने बड़े इतमीनान से पी गया और बोला, 'देखो, मृत्यु क्योंकर मेरे पास आती है।"

स्वामीजी सामाजिक सुधारों के पक्के समर्थक थे, पर उसकी वर्तमान गति से सहमत न थे। उस समय समाज-सुधार के जो यत्न किये जाते थे, वह प्रायः उच्च और शिक्षित वर्ग से ही सम्बन्ध रखते थे। परदे की रस्म, विधवा-विवाह, जाति-बन्धन—यही इस समय की सबसे बड़ी सामाजिक समस्याएँ हैं, जिनमें सुधार होना अत्यावश्यक है, और यह सभी शिक्षित वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं। स्वामीजी का आदर्श बहुत ऊँचा था—अर्थात् निम्न श्रेणीवालों को ऊपर उठाना, उन्हें शिक्षा देना और अपना भाई बनाना। यह लोग हिन्दू जाति की जड़ हैं और शिक्षित-वर्ग उसकी शाखाएँ! केवल डालियों को सींचने से पेड़ पुष्ट नहीं हो सकता। उसे हरा-भरा बनाना हो तो जड़ को सींचना होगा। इसके सिवा इस विषय में आप कठोर शब्दों के व्यवहार को अति अनुचित समझते थे, जिनका फल केवल यही होता है कि जिनका सुधार करना है वही लोग चिढ़कर ईंट का जवाब पत्थर से देने को तैयार हो जाते हैं। और सुधार का मतलब केवल यही रह जाता है कि निरर्थक विवादों और दिल दुखानेवाली आलोचनाओं से पन्ने के पन्ने काले किये जायँ। इसी से तो समाज-सुधार का यत्न आरम्भ हुए सौ साल से ऊपर हो चुका और अभीतक कोई नतीजा न निकला।

स्वामीजी ने सुधारक के लिए तीन शर्तें रखी हैं। पहली यह कि देश और जाति का प्रेम उसका स्वभाव बन गया हो, हृदय उदार हो और देशवासियों की भलाई की सच्ची इच्छा उसमें

बसती हो। दूसरी यह कि अपने प्रस्तावित सुधारों पर उसको दृढ़ विश्वास हो। तीसरी यह कि वह स्थिरचित्त और दृढ़निश्चय हो। सुधार के परदे में कोई अपना काम बनाने की दृष्टि न रखता हो, और अपने सिद्धान्तों के लिए बड़े से बड़ा कष्ट और हानि उठाने को तैयार हो, यहाँ तक कि मृत्यु का भय भी उसे अपने संकल्प से न डिगा सके। कहते थे कि ये तीनों योग्यताएँ जब तक हममें पूर्ण मात्रा में उत्पन्न न हो जायँ, तब तक समाज-सुधार के लिए हमारा यत्न करना बिलकुल बेकार है, पर हमारे सुधारकों में कितने हैं जिनमें ये योग्यताएँ विद्यमान हों। फरमाते हैं—

'क्या भारत में कभी सुधारकों की कमी रही है? क्या तुम कभी भारत का इतिहास पढ़ते हो। रामानुज कौन थे? शंकर कौन थे? नानक कौन थे? चैतन्य कौन थे? दादू कौन थे? क्या रामानुज नीची जातियों की ओर से लापरवाह थे? क्या वह आजीवन इस बात का यत्न नहीं करते रहे कि चमारों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लें? क्या उन्होंने मुसलमानों को अपनी मण्डली में मिलाने की कोशिश नहीं की थी? क्या गुरु नानक ने हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों को मिलाकर एक बनाना नहीं चाहा था? इन सब महापुरुषों ने सुधार के लिए यत्न किये, और उनका नाम अभी तक क़ायम है। अन्तर इतना है कि वह लोग कटुवादी न थे। उनके मुँह से जब निकलते थे मीठे वचन ही निकलते थे। वह कभी किसी को गाली नहीं देते थे, किसी की निन्दा नहीं करते थे। निस्सन्देह सामाजिक जीवन के सुधार के इन गुरुतर और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की हमने उपेक्षा की है और प्राचीनों ने जो मार्ग स्वीकार किया था, उससे विमुख हो गये हैं।'

सामाजिक सुधार के समस्त प्रचलित प्रश्नों में से स्वामीजी केवल एक के विषय में सुधारकों से सहमत थे। बाल-विवाह और

जनसाधारण गृहस्थ-जीवन की अत्यधिक प्रवृत्ति को वह घृणा की दृष्टि से देखते थे। अतः रामकृष्ण मिशन की ओर से जो विद्यालय स्थापित किये गये, उनमें पढ़नेवालों के मा-बाप को यह शर्त भी स्वीकार करनी पड़ती है कि बेटे का ब्याह १८ साल के पहले न करेंगे। ब्रह्मचर्य के वह जबर्दस्त समर्थक थे और भारत-वर्ष की वर्तमान भीरुता और पतन को ब्रह्मचर्य-नाश का ही परिणाम समझते थे। आज-कल के हिन्दुओं के बारे में अक्सर वह तिरस्कार के स्वर में कहा करते थे कि यहाँ भिखमंगा भी यह आकांक्षा रखता है कि ब्याह कर लूँ और देश में दश-बारह गुलाम और पैदा कर दूँ।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के आप कट्टर विरोधी थे। आपका मत था कि शिक्षा उस जानकारी का नाम नहीं है जो हमारे दिमाग में ठूँस दी जाती है, किन्तु शिक्षा का प्रधान उद्देश्य मनुष्य के चरित्र का उत्कर्ष, आचरण का सुधार और पुरुषार्थ तथा मनोबल का विकास है...अतः हमारा लक्ष्य यह होना चाहिये कि हमारी सब प्रकार की लौकिक शिक्षा का प्रबन्ध हमारे हाथ में हो, और उसका संचालन यथासम्भव हमारी प्राचीन रीति-नीति और प्राचीन प्रणाली पर किया जाय।'

स्वामीजी की शिक्षा-योजना बहुत विस्तृत थी। एक हिन्दू-विश्वविद्यालय स्थापित करने का भी आपका विचार था, पर अनेक बाधाओं के कारण आप उसे कार्यान्वित न कर सके। हाँ, उसका सूत्रपात अवश्य कर गये।

धर्मगत रागद्वेष का भी आपके स्वभाव में कहीं लेश भी न था। दूसरे धर्मों की निन्दा और अपमान को बहुत अनुचित मानते थे, ईसाई धर्म, इसलाम, बौद्ध धर्म सबको समान दृष्टि से देखते थे। एक भाषण में हज़रत ईसा को ईश्वर का अवतार माना था। अपने देशवासियों को सदा इस बात की याद दिलाते रहते थे कि आत्म-विश्वास ही महत्त्व का मूलमन्त्र है। हमें अपने

ऊपर बिलकुल भरोसा नहीं। अपने को छोटा और नीचा समझते हैं, इसी कारण दीन-हीन बने हुए हैं। हर अंग्रेज समझता है कि मैं शूर वीर हूँ, साहसी हूँ, और जो चाहूँ कर सकता हूँ। हम हिन्दुस्तानी अपनी असमर्थता के इस हद तक कायल हैं कि मर्दानगी का ख्याल भी हमारे दिलों में नहीं पैदा होता। जब कोई कहता है कि तुम्हारे पुरखे निर्बुद्धि थे, वह गलत रास्ते पर चले, और इसी कारण तुम इस अवस्था को पहुँचे तो हमको जितनी लज्जा होती है, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता, और हमारी हिम्मत और भी टूट जाती है। स्वामीजी इस तत्त्व को खूब समझते थे और किसी दूषित प्रथा के लिए अपने पूर्व-पुरुषों को कभी दोष नहीं देते थे। कहते थे कि हर एक प्रथा अपने समय में उपयोगी थी और आज उसकी निंदा करना निरर्थक है। आज हम इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि साधु-समुदाय के अस्तित्त्व से हमारे देश को कोई लाभ नहीं, और हमारी दान-धारा को उधर से हटकर शिक्षा-संस्थाओं और समाज-सुधार के कार्यों की ओर बहना चाहिये। स्वामीजी इसे स्वार्थपरता मानते थे। और है भी ऐसा ही। साधु कितना ही अपढ़ हो, अपने धर्म और शास्त्रों से कितना ही अनभिज्ञ हो, फिर भी हमारे अशिक्षित देहाती भाइयों की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति और मनः समाधान के लिए उसके पास काफी विद्या-ज्ञान होता है। उसकी मोटी-मोटी धर्म-सम्बन्धी बातें कितने ही दिलों में जगह पातीं और कितनों के लिए कल्याण का साधन बनती हैं। अब अगर उनकी आवश्यकता नहीं समझी जाती तो कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिये जिसमें उनका काम जारी रहे। पर हम इस दिशा में तो तनिक भी नहीं सोचते और जो रहा-सहा साधन है उसे भी तोड़-फोड़कर बराबर किया चाहते हैं।

सारांश, स्वामीजी अपनी जाति को आचार-व्यवहार, रीति-नीति, साहित्य और दर्शन, सामाजिक जीवन, उसके पूर्व-काल के

महापुरुष और पुनीत भारतभूमि सबको श्रद्धेय और सम्मान्य मानते थे। आपके एक भाषण का निम्नलिखित अंश सोने के अक्षरों में लिखा जाने योग्य है—

'प्यारे देशवासियो! पुनीत आर्यावर्त के बसनेवाले! क्या तुम अपनी इस तिरस्करणीय भीरुता से वह स्वाधीनता प्राप्त कर सकोगे, जो केवल वीर-पुरुषों का अधिकार है। हे भारत निवासी भाइयो! अच्छी तरह याद रखो कि सीता, सावित्री और दमयन्ती तुम्हारी जाति की देवियाँ हैं। हे वीर पुरुषो! मर्द बनो और ललकारकर कहो, मैं भारतीय हूँ। मैं भारत का रहनेवाला हूँ। हर एक भारतवासी चाहे वह कोई भी हो, मेरा भाई है। अपढ़ भारतीय, निर्धन भारतीय, ऊँची जाति का भारतीय नीची जाति का भारतीय सब मेरे भाई हैं। भारतीय मेरा भाई है। भारत मेरा जीवन, मेरा प्राण है। भारत के देवता मेरा भरण-पोषण करते हैं। भारत मेरे बचपन का हिंडोला, मेरे यौवन का विलास-भवन और बुढ़ापे का वैकुण्ठ है। हे शंकर! हे धरती माता! मुझे मर्द बना। मेरी दुर्बलता दूर कर, और मेरी भीरुता का नाश कर।'

स्वामीजी के उपदेशों का सार यह है कि हम स्वजाति और स्वदेश के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करें, आत्मबल प्राप्त करें, बलवान् और वीर बनें। नीची जातियों को उभारें और उन्हें अपना भाई समझें। जब तक ९० प्रतिशत भारतवासी अपने को दीन-हीन समझते रहेंगे, भारत में एका और मेल का होना सर्वथा असम्भव है। हम धर्म में आस्था रखें, पर संन्यासी, विरागी न बनें। हाँ, हम अपने एका के लिए सब प्रकार के त्याग करने को तैयार रहें। हम पैसा कमाएँ, पर उसे अपने सुख-विलास में खर्च न करें, किन्तु राष्ट्र-हित में लगा दें। हिन्दू तत्त्व-ज्ञान के कर्मसम्बन्धी अंग का अनुसरण करें, शम, दम और तप

त्याग उन लोगों के लिए छोड़ दें जिन्हें भगवान ने इस उच्च पद पर पहुँचने की क्षमता प्रदान की है। स्वामीजी की शिक्षा का आधार प्रेम और शक्ति है। निर्भीकता उसका प्राण है और आत्मविश्वास उसका धर्म है। उनकी शिक्षा में दुर्बलता और अनुनय-विनय के लिए तनिक भी स्थान नहीं था। उनका वेदान्त मनुष्य को सांसारिक दुःख-क्लेश से बचाने, जीवन-संग्राम में वीर की भाँति जुटने और मानसिक-आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति की समान रूप से शिक्षा देता है।

राजा मानसिंह

'दरबारे-अकबरी' के रचयिता ने, जिसकी क़लम में जादू था, क्या ख़ूब कहा है—'इस उच्च-कुल-सम्भूत राजा का चित्र दरबारे-अकबरी के चित्र-संग्रह में सोने के पानी से खींचा जाना चाहिये। निस्सन्देह! और न केवल मानसिंह का, किन्तु उसके कीर्तिशाली पिता राजा भगवानदास और सुविख्यात दादा राजा भारामल के चित्र भी इसी सम्मान और शृङ्गार के अधिकारी हैं। राजा भारामल वह पहला बुद्धिमान और दूर तक देखने-सोचने-वाला राजा था, जिसने हज़ारों साल के धार्मिक संस्कारों को देश के सामयिक हित पर बलिदान करके मुसलमानों से नाता जोड़ा और सन् ९६९ हिज्री में अपनी रूप-गुणशीला कन्या को अकबर की पटरानी बनाया। आमेर के कछवाहा वंश को विचार-स्वातन्त्र्य और धर्मगत उदारता के क्षेत्र में अगुआ बनने का गौरव प्राप्त है। और जब तक ज़माने की निगाहों में इन पुनीत गुणों का आदर रहेगा, इस घराने के नाम पर सम्मान की श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जाती रहेगी।

मानसिंह आमेर में पैदा हुआ और उसका बचपन उसी देश के जोशीले, युद्धप्रिय निवासियों में बीता, जिनसे उसने वीरता और साहस के पाठ पढ़े। पर जब ज़वानी ने हृदय में उत्साह और उत्साह में उमंग पैदा की तो अकबर के दरबार की तरफ़ रुख़ किया जो उस ज़माने में मान-प्रतिष्ठा, पद और अधिकार की खान समझा जाता था। भगवानदास की सच्ची शुभचिन्तना और उत्सर्गमयी सहायताओं ने शाही दरबार में उसे मान-प्रतिष्ठा के

आसन पर आसीन कर रखा था। उसके होनहार तेजस्वी बेटे की जितनी आव-भगत होनी चाहिये थी, उससे अधिक हुई। अकबर ने उसके साथ पितृ-सुलभ स्नेह दिखाया। और सन् १५७२ ई० में जब गुजरात पर चढ़ाई की तो नवयुवक राजकुमार को हमराही का सम्मान प्रदान किया। इस मुहिम में उसने वह बढ़-बढ़कर हाथ मारे कि अकबर की नजरों में जँच गया। अगर कुछ कोर-कसर थी तो वह उस वक्त पूरी हो गई जब खान आज़म अहमदाबाद में घिर गया और अकबर ने आगरे से कूच करके दो महीने की राह ७ दिन में तै की। नौजवान राजकुमार इस धावे में भी साथ रहा। यह मानो उसकी शिक्षा और परीक्षा के दिन थे।

अब वह समय आया कि बड़े-बड़े विश्वास और दायित्व के काम उसे सौंपे जायँ। दैव-योग से इसका अवसर भी जल्दी ही हाथ आया। वह शोलापुर की मुहिम मारे चला आ रहा था कि रास्ते में कुंभलमेर स्थान में महाराणा प्रतापसिंह से भेंट हुई। राणा कछवाहा कुल पर उसके विचार-स्वातन्त्र्य के कारण तना बैठा था कि उसने राजपूतों के माथे पर कलंक का टीका लगाया। मानसिंह पर चुभते हुए व्यंगबाण छोड़े जो उसके कलेजे के पार हो गये। इस घाव के लिए बदला लेने के सिवाय और कोई कारगर मरहम न दिखाई दिया।

मानसिंह ने आगरे पहुँचकर अकबर को सारी कथा सुना दी। अकबर ऊँची हिम्मत का बादशाह था, क्रोध में आ गया। राणा पर चढ़ाई की तैयारी की। शाहजादा सलीम सेनापति बनाये गये और मानसिंह उसका मन्त्री नियुक्त हुआ। शाही फौज जंगलों-पहाड़ों को पार करती राणा के राज्य में प्रविष्ट हुई। राणा उस पर मर मिटने को तैयार २२ हज़ार राजपूतों के साथ हलदी घाटी के मैदान में अड़ा खड़ा था। यहाँ ख़ूब घमासान की लड़ाई रक्त की नदियाँ बह गईं। पहाड़ों के पत्थर सिङ्गरफ़ बन गये।

मेवाड़ के वीर मानसिंह के खून के प्यासे हो रहे थे। ऐसे जान तोड़-तोड़कर हमले करते थे कि अगर सद्दे सिकन्दर* भी होती तो शायद अपनी जगह पर क़ायम न रह सकती। मगर मानसिंह भी शेर का दिल रखता था। उस पर जवानी का जोश। हौसला कहता था कि सारी सेना की निगाहें तुझ पर हैं, दिखा दे कि राजपूत अपनी तलवार का ऐसा धनी होता है। अन्त को अकबरी प्रताप की विजय हुई। राणा के साथियों के पाँव उखड़ गये। चौदह हज़ार खेत रहे। केवल ८ हज़ार अपनी जानें सलामत ले गये। कहाँ हैं स्पार्टा की सराहना में पन्ने के पन्ने काले करनेवाले! आयें और देखें कि भारत के योद्धा कैसी निर्भयता के साथ जान देते हैं!

राणा लड़ाई तो हार गया पर हिम्मत न हारा। उसकी हेकड़ी उसके गले का हार बनी रही। जब कभी मैदान ख़ाली पाता, अपने मौत से खेलनेवाले साथियों को लेकर क़िले से निकल पड़ता और आस-पास में आफत मचा देता। अकबर ने कुछ दिनों तक तरह दी, पर जब राणा की ज़्यादतियाँ हद से आगे निककल गईं तो सन् १५७६ में उस पर फिर चढ़ाई की तैयारी की। ख़ुद तो अजमेर में आकर ठहरा और मानसिंह को पुत्र की पदवी के साथ इस चढ़ाई का सेनापतित्व दिया। राजा हवा के घोड़े पर सवार होकर दम के दम में गोगंडा जा पहुँचे जहाँ राणा अपने दिन काट रहा था।

राणा ने भी अबकी मरने-मारने की ठान ली। ज्योंही दोनों सेनायें आमने-सामने हुईं और डंके पर चोट पड़ी, दस्त-बदस्त लड़ाई होने लगी। राणा के आन-भरे राजपूत ऐसी बेजिगरी से झपटे कि शाही फौज के दोनों बाजुओं को छिन्न-भिन्न कर दिया।

---

* सद्दे दीवार—कहा जाता है कि सिकन्दर ने वर्बर जातियों के प्रतिरोध के लिए काँसे की एक दीवार बनवाई थी।

पर मानसिंह जो सेना के मध्यभाग में था, अपने स्थान पर अटल रहा। अचानक उसके तेवर बदले, शेर की तरह गरजा, अपने साथियों को ललकारा और बिजली की तरह राणा की सेना पर टूट पड़ा। राणा क्रोध में भरा ताल ठोंककर सामने आया और दोनों रणबाँकुरे गुथ गये। ऊपर-तले कई बार हुए और राणा घायल होकर पीछे हटा। उसके हटते ही उसकी सेना में खलबली पड़ गई। उनके पाँव उखड़े थे कि मानसिंह की प्रलयङ्करी तलवार ने हजारों को धराशायी बना दिया। उनकी बहादुरी ने आज वह करतब दिखाये कि अच्छे-अच्छे प्रौढ़ मुग़ल योद्धा जो बाबरी तलवार की काट देखे हुए थे, दाँतों तले उँगली दबाकर रह गये।

इस विजय ने कुँवर मानसिंह के सेनापतित्व की धूम मचा दी और सन् १५८१ ई० में उसकी तलवार ने वह तड़प दिखाई कि "हिन्दी लोहे ने विलायती के जौहर मिटा दिये।" बंगाल में कुछ सरदारों ने सिर उठाया और अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम को (काबुल से) चढ़ा लाने की युक्ति लड़ाना शुरू किया। मिर्ज़ा ख़ुशी से फूला न समाया। अपनी सेना लेकर पंजाब की ओर बढ़ा। इधर से राणा मानसिंह सेनापति बनकर उसके मुक़ाबिले को रवाना हुआ। मिर्ज़ा का दूधभाई शादमान जो बड़ा वीर और साहसी पुरुष था, अटक का घेरा डाले हुए पड़ा था। नगाड़े की घन गरज-ध्वनि कान में पड़ी तो चौंका। पर अब क्या होता था, मानसिंह सिर पर आ पहुँचा था। उसकी सेना पलक मारते तितर-बितर हो गई और शामदान धूल में लोटता हुआ दिखाई दिया।

मिर्ज़ा ने यह ख़बर सुनी तो बड़ा क्रुद्ध हुआ। तुरत लड़ने को तैयार हो गया और अकबर को बङ्गाल के झमेलों में उलझा हुआ समझकर लाहौर तक दर्राता हुआ घुस आया। पर ज्यों ही सुना कि अकबर धावा मारे इधर चला आ रहा है, उसके होश उड़ गये। पहाड़ों को फाँदता, नदियों को पार करता काबुल को

भागा। मानसिंह भी शाही आदेश के अनुसार पेशावर पर जा पड़ा और काबुल की ओर बढ़ना शुरू किया। अकबर भी अपनी प्रतापी सेना लिये उसके पीछे-पीछे चला।

मानसिंह निश्शंक घुसता हुआ छोटे काबुल तक जा पहुँचा और वहाँ ठहरा कि शत्रु मैदान में आये तो लंबी मंजिलों की थकन दूर हो। मिर्ज़ा हकीम भी बड़े आगा-पीछा के बाद सेना लिए एक घाटी से निकला और उभयपक्ष में संग्राम होने लगा। दोनों ओर के रनबाँकुरे ख़ूब दिल तोड़कर लड़े। यद्यपि मुक़ाबला बहुत कड़ा था और राजपूतों को ऐसी ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर लड़ने का अभ्यास न था, पर मानसिंह ने सिपाहियों को ऐसा उभारा और ऐसे मौक़े-मौक़े से कुमक पहुँचाई कि अन्त में मैदान मार लिया। दुश्मन भेड़ों की तरह भागे। राजपूतों के अरमान दिल के दिल ही में रह गये। पर दूसरे दिन सूरज भी न निकलने पाया था कि मिर्ज़ा का मामूँ फ़रीदूँ फिर फ़ौज लेकर आ पहुँचा। मानसिंह ने भी अपनी सेना उसके सामने ले जाकर खड़ी की और चटपट ख़ून की प्यासी तलवारें म्यानों से निकलीं, तोपों ने गोले दागे, और रेलपेल होने लगी। दो घण्टे तक तलवारें कड़कती रहीं। अंत को शत्रु पीछे हटा और मानसिंह विजय-दुंदुभी बजाता हुआ काबुल में दाख़िल हुआ। पर धन्य है अकबर की दयालुता और उदारता को कि जो देश इतने रक्तपात के बाद जीता गया, उस पर क़ब्जा न जमाया बल्कि मिर्ज़ा का अपराध क्षमा कर दिया और उसका देश उसको लौटा दिया। पेशावर और सीमान्त-प्रदेश का शासन-भार मानसिंह को सौंपा और राजा ने बड़ी बुद्धिमानी तथा गंभीरता से इस कर्तव्य का पालन किया। उस देश का चप्पा-चप्पा उपद्रव उत्पात का अखाड़ा हो रहा था। मानसिंह ने अपने नीति-कौशल और दृढ़ता से बड़े-बड़े फसादियों की रगें ढीली कर दीं। इसके साथ ही उसके सौजन्य ने भले आदमियों का मन जीत लिया। दल के दल लोग सलाम को

हाज़िर होने लगे। फिर भी वह प्रजा को अधिक समय तक सन्तुष्ट न रख सका। उसके सिपाही आख़िर राजपूत थे। अफ़ग़ानों के अत्याचार याद करते तो वेअख़्तियार माथे पर वल पड़ जाता। इस भाव से प्रेरित होकर प्रजा को सताते। अतः इसकी शिकायतें अकवर के दरवार में पहुँची। राजा विहार भेज दिये गये।

बंगाल अकवर के साम्राज्य का वह नाज़ुक भाग था, जहाँ फ़साद का मवाद इकट्ठा होकर पका करता था। पठानों ने अपने तीन सौ साल के शासन में इस देश पर अच्छी तरह अधिकार जमा लिया था। वहुतेरे वहीं आवाद हो गये थे और यद्यपि अकवर ने कई वार उनका नशा हिरन कर दिया था फिर भी कुछ ऐसे सिर वाक़ी थे, जिनमें राज्य की हवा समाई हुई थी और वह समय-समय पर उपद्रव खड़ा किया करते थे। वहाँ के हिन्दू राजाओं ने भी उनसे प्रेम का नाता जोड़ रखा था और आड़े समय पर काम आया करते थे।

मानसिंह के जाते ही राजा पूरनमल कंधोरिया पर चढ़ गया और उसके दर्प-दुर्ग को ध्वस्त कर दिया। राजा संग्राम (सिंह) को भी तलवार के घाट उतारा और कुछ राजाओं को भी दवाकर विहार को उपद्रव उठानेवालों से साफ कर दिया। इन विश्वस्त सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप उसको राजा की पदवी, शाही जोड़ा, सुनहरे जीन सहित घोड़ा और पंजहज़ारी का पद प्रदान किये गये।

पर ऐसे मनचले जोशीले राजपूत से कव चुप वैठा जाता था। सन् १५९० ई० में उसने घोड़े को एँड़ लगाई और उड़ीसा में दाख़िल हो गया। उन दिनों यहाँ क़तलूखाँ पठान राज्य करता था। सामने के लिए तैयार हुआ पर संयोग-वश इसी वीच पठानों में अनवन हो गई। क़तलूखाँ क़तल हुआ, वाक़ी सरदारों ने अधीनता स्वीकार की और कई साल तक आज्ञा-धारक वने

रहे। पर अचानक उनकी हिम्मतों ने फिर सिर उभारा और बादशाही मुल्क पर चढ़ आये। इधर मानसिंह बेकारी से ऊब उठा था। बहाना हाथ आया। तुरन्त सेना लेकर बढ़ा और दुश्मनों के इलाक़े में अकबरी झंडा गाड़ दिया। पठान बड़े जोश से मुक़ाबले को आये पर राजपूत सूरमाओं के आगे एक भी पेश न गई। दम के दम में सुथराव हो गया और बिहार से लेकर समुद्रतट तक अकबरी प्रताप की पताका फहराने लगी।

राजा मानसिंह रण-विद्या में जैसा पण्डित था, राजनिति के तत्त्वों से भी वैसा ही सुपरिचित था। उसकी गहरी निगाह ने साफ़ देख लिया था कि यह बेल मुँढे चढ़ने की नहीं। इस प्रकार राज्य कभी स्थिर न रह सकेगा, जब तक कि एक ऐसा नगर न बसाया जाय जो दरियाई हमलों से सुरक्षित हो और ऐसे केन्द्रीय स्थान पर स्थित हो जहाँ से चारों ओर आसानी से कुमक भेजी जा सके। अन्त को बड़े बहस-मुबाहसे, सलाह-मशिवरे के बाद अकबर-नगर की नींव डाली गई। मानो जंगल में मंगल हो गया। कुछ ही वर्षों में नगर में ऐसी शोभा और चहल-पहल हो गई कि इन्द्रजाल-सा मालूम होने लगा। यह नगर आज राजमहल के नाम से प्रसिद्ध है और जब तक धरा-धाम पर बना रहेगा, अपने संस्थापक का नाम उजागर करता रहेगा। इस नगर के बीचो-बीच एक सुदृढ़ दुर्ग निर्माण कराया गया और पठानों को फिर सिर उठाने का साहस न हुआ। राजा ने चार ही पाँच साल के प्रयत्न और परिश्रम से सारे बंगाल से अकबर के चरणों पर माथा टेकवा दिया। ख़ांजमा, ख़ानख़ाना, राजा टोडरमल जैसे यशस्वी व्यक्तियों ने बङ्गाल पर जादू फूँके पर वहाँ अधिकार जमाने में असफल रहे। ऐतिहासिकों ने इस गौरव का अधिकारी मानसिंह को ही माना है। इन सूबों में नवयुवक जगतसिंह ने भी मरदानगी के ख़ूब जौहर दिखाये और सन् १५९८ ई० में पंजाब के पहाड़ी इलाक़े की सूबेदारी से सम्मानित किया गया। पर यह साल

मानसिंह के लिए बड़ा ही मनहूस था। उसके दो बेटे ठीक चढ़ती जवानी में जब जीवन के सुखों के उपभोग के दिन आ रहे थे, काल का ग्रास बने और बाप की आशाओं की कमर तोड़ गये।

पर राजा संभवतः उन सम्पूर्ण सुखों का उपभोग कर चुका था जो विधाता ने उसके भाग्य-लेख में लिख रखे थे। इन महा-शोकों के दो ही साल बाद उसके हृदय पर ऐसा घाव बैठा कि उबर न सका।

मेवाड़ का राणा अभी तक अकबरी दरबार में हाज़िरी लगाने-वालों की श्रेणी में न आया था, और अकबर के दिल से लगी हुई थी कि उसे अधीनता का जुआ पहनाये। अभी तक जितनी सेनाएँ इस मुहिम पर गईं थीं सब विफल लौटी थीं। अब की बार बहुत बड़े पैमाने पर तैयारियाँ की गईं। शाहज़ादा सलीम सेना-पति बनाये गये, और राजा मानसिंह उनके सलाहकार बने। होनहार राजकुमार जगतसिंह बंगाल में बाप का उत्तराधिकारी हुआ। ख़ुश-ख़ुश पञ्जाब से आगरे आया और सफ़र का सामान करने में लगा था कि अचानक दुनिया से ही उठ गया। बड़ा ही सुशील, जवान था। कछवाहों के घर-घर कुहराम मच गया। मानसिंह को यह खबर मिली तो उसकी आँखों में जगत सूना हो गया। दो बेटों के घाव अभी भरने न पाये थे कि यह गहरा घाव और बैठा। हाय! जवान और होनहार बेटे की मौत का सदमा कोई उसके दिल से पूछे। अकबर को भी जगतसिंह की मृत्यु का बड़ा दुःख हुआ, उससे बहुत स्नेह रखता था। उसके बेटे महान-सिंह को बङ्गाल भेजा, पर वह अभी अनुभव-हीन लड़का था। पठानों से हार खाई और सारे बङ्गाल में बाग़ियों ने स्वाधीनता का झण्डा फहरा दिया। इधर शाहज़ादा का मन भी राणा की मुहिम से उचाट हुआ। भोग-विलास का भक्त था, पहाड़ों से सिर टक-राना पसन्द न आया। बिना बादशाह की इजाज़त के इलाहाबाद को लौट पड़ा। मानसिंह भी बंगाल को चला कि विप्लव की आग

को उपद्रवियों के रक्त से बुझाये। मगर अफ़सोस! बुढ़ापे में बद-नामी का धब्बा लगा। अकबर को शक हुआ कि सलीम राजा के इशारे ही से लौटा है, यद्यपि यह संदेह निराधार था। क्योंकि शाहज़ादे का मन पहले से ही उसकी ओर से सशंक और कलुपित हो रहा था। परन्तु मानसिंह की साहस-वीरता-भरी कार्या-वली ने शीघ्र ही इस शंका को दूर करा दिया। कुछ हीं महीनों में वङ्गाल ने फिर अकबर के सामने सिर झुका दिया। और सन् १५०४ ई० में अकबर की गुण-ग्राहकता ने उसे शाहज़ादा खुसरो के शिक्षक-पदपर नियुक्त करके हफ़्तहज़ारी मनसब—छः हज़ार सवारों के नायकत्व—से सम्मानित किया। अब तक यह गौरव किसी और अधिकारी को प्राप्त न हुआ था। पर राजा टोडरमल के सिवा दूसरा कौन था जो स्वामि-भक्ति और उसके लिए जान हथेली पर लिये रहने में उसकी बराबरी कर सकता। इस पर विशेपता यह कि वह स्वयं भी एक सुविख्यात सुसम्मानित कुल का दीपक था जिसके साथ २० हज़ार योद्धा हरदम पसीने की जगह ख़ून बहाने को तैयार रहते थे। पर हा हन्त! सहज वाम-विधि से उसका यह सम्मान और उत्कर्प न देखा गया। सन् १५०५ ई० में अकबर ने इस नश्वर चोले का त्याग किया और उसी दिन से मानसिंह का गौरव-सूर्य भी अस्ताचल की ओर अभिमुख हुआ। तथापि जहाँगीर के राज्यकाल में भी उसने ९ बरस तक इज्ज़त-आबरू के साथ निबाह दिया। उसकी सुलझी हुई बुद्धि और व्यवहार-कुशलता की सराहना करनी चाहिए कि जैसा समय देखता था, वैसा करता था और जहाँगीर की उदारता को भी धन्य है कि यद्यपि मानसिंह को खुसरो की ओर से उठाये जानेवाले बखेड़ों का मूल कारण समझता था पर उसका पद और अधिकार सब ज्यों-का-त्यों रखा। खानखानां और मिरज़ा अजीज़ समय के संकेत को समझने की बुद्धि न रखते थे। अतः अकबर के बाद जब तक जिये जीवन्मृत रहे। दुर्दिन के कष्ट झेलते रहे।

सन् १५१४ ई० में जहाँगीर ने एक विशाल सेना ख़ांजहाँ के सेनापतित्व में दक्षिण पर चढ़ाई करने को भेजी। मानसिंह भी, जो दरबार की उपेक्षा से खिन्न हो रहा था, इस मुहिम के साथ चला कि हो सके तो बुढ़ापे में जवानी का जोश दिखाकर बादशाह के दिल में जगह पायें। पर मौत ने यह अरमान निकालने न दिया। बेटों में केवल भावसिंह जीता था। जहाँगीर ने उसे मिरज़ा राजा की पदवी देकर चारहज़ारी के पद पर प्रतिष्ठित किया।

मानसिंह युद्ध-नीति और शासन-नीति दोनों का पंडित था और उनको सम्यक् प्रकार से काम में लाना जानता था। जिस मुहिम पर गया, विजय-कीर्ति लेकर ही लौटा। अफ़गानिस्तान के लोग अभी तक उसका नाम आदर के साथ लेते हैं। इन गुणों के साथ-साथ वह स्वभाव का विनम्र और मिलनसार था। सबके साथ सज्जनोचित व्यवहार करता। पीठ पीछे लोगों की भलाई करता, प्रसन्नचित्त तथा विनोद-प्रिय था। उसकी उदारता उस ज़माने में बेजोड़ थी, जिसकी एक कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है कि जब दक्षिण को मुहिम जा रही थी, बालाघाट स्थान में अन्न का ऐसा टोटा पड़ा कि एक रुपये के आटे में भी आदमी का पेट नहीं भरता था। एक दिन राजा ने कचहरी से उठकर कहा कि अगर मैं मुसलमान होता तो एक समय हज़ार मुसलमानों के साथ भोजन करता। पर मैं सब में बूढ़ा हूँ, सब भाई मुझसे पान स्वीकार करें। सबसे पहले ख़ाँजहाँ लोदी ने हाथ सिर पर रखकर कहा कि मुझे स्वीकार है, फिर औरों ने भी स्वीकार किया। राजा ने एक सौ रुपया पंजहज़ारी का और इसी हिसाब से औरों का भोजन-व्यय बाँध दिया। हर रात को हर एक आदमी के पास एक खरीते में यह रुपया पहुँच जाता। खरीते पर उसका नाम लिखा होता। सिपाहियों को रसद पहुँचने तक सस्ते दाम पर चीज़ें मिलने का प्रबन्ध करता। रास्ते में मुसलमानों के लिए

हम्माम और कपड़े की मस्जिद बनवाकर खड़ी कराता। इसी को औदार्य कहते हैं और दरियादिली इसी का नाम है। 'बाग़ोबहार' में शाहज़ादी बसरा की कहानी पढ़िए और उसकी तुलना इस ऐतिहासिक कथा से कीजिए।

राजा टोडरमल की तरह राजा मानसिंह भी मरते दम तक अपने बाप-दादों के धर्म पर दृढ़ रहा, पर कट्टरपन से उसके स्वभाव को तनिक भी लगाव नहीं था। धार्मिक असहिष्णुता या पक्षपात रखनेवाले व्यक्ति का अकबर के राज्यकाल में उत्कर्ष पाना असंभव ही था। अकबर ने एक बार मानसिंह से इशारतन् धर्म-परिवर्तन का प्रस्ताव किया, उस राजा ने ऐसा उपयुक्त उत्तर दिया कि बादशाह को चुप हो जाना पड़ा। पुस्तकों में बहुत-से उल्लेख मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि राजा रसिकता, विनोदशीलता और चुटकलेबाज़ी में भी औरों से दो क़दम आगे था। यही गुण थे जो उसके उत्कर्ष के सोपान थे। पर हमारी दृष्टि में तो उसका मूल्य और महत्त्व इसलिए है कि उसके घराने ने पहले-पहल दो परस्पर-विरोधी समुदायों को मिलाने का यत्न किया।

राजा टोडरमल

यों तो अकबर का दरबार विद्या और कला, नीतिज्ञता और कार्य-कुशलता का भंडार था; पर इतिहास के पन्नों पर टोडरमल का नाम जिस आब-ताब के साथ चमका, राज्य-प्रबन्ध और शासन-नीति में जो स्मरणीय कार्य उसके नाम से संयुक्त हैं, वह उसके समकालीनों में से किसी को प्राप्त नहीं। खानखाना, खान-जमाँ और खान आज़म की प्रलंयकरी तलवारें थीं, जिन्होंने अकबरी दुनिया में धूम मचा रखी थी, पर वह बिजलियाँ थीं कि अचानक कौंधी और फिर आँखों से ओझल हो गईं। अबुल फ़ज़ल और फ़ैज़ी के अनुसंधान और गहरी खोजें थीं कि जिज्ञासु जन चाहें तो आज भी उनसे अपनी ज्ञान-परिधि का विस्तार कर सकते हैं। परन्तु टोडरमल की यादगार, वह शासन-व्यवस्थाएँ और विधान हैं जो सभ्यता और संस्कृति की इतनी प्रगति के बाद भी आज तक गौरव की दृष्टि से देखे और श्रद्धा के साथ बरते जाते हैं। न काल की प्रगति उन्हें छूने का साहस कर सकी और न शासन-प्रणाली के अदल-बदल।

टोडरमल जाति का खत्री और गोत्र का टंडन था। उसके जन्म-स्थान के विषय में मतभेद है पर एशियाटिक सोसायटी की नयी खोजों ने निश्चित कर दिया है कि अवध प्रदेश के लाहरपुर ग्राम को उसकी जन्म-भूमि होने का गौरव प्राप्त है। माँ-बाप निर्धनता के कारण कष्ट से दिन बिता रहे थे। उस पर यह विपत्ति और पड़ी कि अभी टोडरमल के हाथ-पाँव सम्हलने न पाये थे कि बाप का साया भी सिर से उठ गया और विधवा माता ने न

मालूम किन कठिनाइयों से इस होनहार बच्चे को पाला। पर भगवान की लीला को देखिए कि यही अनाथ और असहाय बालक सम्राट् अकबर का प्रधान मंत्री हुआ जिसकी लेखनी की सत्ता सारे भारतवर्ष में व्याप्त थी। दुनिया में बहुत कम ऐसी माताएँ होंगी, जिनके लड़के ऐसे सपूत होंगे और कम ही किसी सन्त-महात्मा का आशीर्वाद ईश्वर के दरबार में इस प्रकार स्वीकृत हुआ होगा।

उस ज़माने में जब कि शिक्षा ऊँची श्रेणीवालों तक ही सीमित थी, और आज की शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं का नाम भी न था, इस निर्धन बालक की पढ़ाई-लिखाई क्या हो सकती थी। हाँ, वह स्वभावतः तीक्ष्णबुद्धि, परिश्रमी और ढंग से काम करने-वाला था और यह अभ्यास वय के साथ साथ दृढ़ होते गये। अभी वयस्क भी न होने पाया था कि जीविकार्जन की आवश्यकता ने घर से बाहर निकाला। शेरशाह सूरी उन दिनों भारत का भाग्य-विधाता हो रहा था और उसका मन्त्री मुज़फ्फ़र खाँ ज़मीन का बन्दोबस्त करने में व्यस्त था। उसकी सरकार में साधारण क्लर्क का काम करने लगा। पर नैसर्गिक प्रतिभा और सहज गुण कब छिपे रहते हैं! अपनी कार्य-कुशलता और श्रम-शीलता की बदौलत आगे-आगे रहने लगा; और दफ़्तर के अनेक विभाग उसके आधीन हो गये। चूँकि आरम्भ से ही उसको पुस्तकाध्ययन और नई-नई बातों के जानने का शौक़ था, बहुत जल्द दफ़्तर के काम-काज और सारी बातों का पूरा जानकार हो गया। इस बीच ज़माने ने करवट बदली। और सूरी वंश का ह्रास हुआ और हुमायूँ का भाग्य जागा। पर वह भी कुछ ही दिनों में स्वर्ग को सिधारा और अकबर ने राजमुकुट सिर पर धरा। वह आदमी का परखनेवाला था। एक ही निगाह में ताड़ गया कि यह नौजवान मुंशी एक दिन ज़रूर नाम करेगा। उसे अपनी सरकार में ले लिया और दरबार में रहने का हुक्म दिया।

पर अकबर का दरबार वह उद्यान न था जहाँ कोई निरा सिपाही या निरा मुंशी यश और सम्मान के फूल चुन सकता। टोडरमल अब तक कलम के जौहर दिखाता रहा। पर सन् १५६५ ई० में आवश्यकता हुई कि वह यह दिखलाये कि मैं किस रग-पट्ठे और दम-खम का सिपाही हूँ। उन दिनों हुसैन कुली खां—खांज़माँ ने फ़साद पर कमर बाँधी थी। वह अपने समय का बड़ा ही रण-कुशल, पराक्रमी योद्धा था, और कितने ही मारकों में अपने साहस तथा वीरता का प्रमाण दे चुका था। ख़ुद तो बिहार और जौनपुर के सूबे दबाये बैठा था, और अपने छोटे भाई बहादुर खाँ को, जो वीरता और साहस में उसी का जोड़ी था, अवध की ओर रवाना किया था। अकबर ने मीर मुइज्जुलमुल्क को भेजा कि बहादुर खाँ को गिरफ़्तार करके दरबार में हाज़िर करे। पर उससे कोई काम न बनते देखकर टोडरमल को भेजा कि विकृत-मस्तिष्क नमकहरामों को चेतावनी दे दे और इससे काम न निकले तो कान उमेठकर अक्ल ठिकाने कर दे। टोडरमल तुरत इस मुहिम पर रवाना हुआ, पर मुक़ाबला ऐसा करारा था और मीर मुइज्जुलमुल्क, जिसके नाम सेनापतित्व था, ऐसा कच्चा सिपाही था कि शाही फ़ौज को पीछे हटते ही बना। हाँ, धन्य है टोडरमल को कि मैदान से न टला और इस हार में भी मानो उसकी जीत ही रही। अकबर ने पहली बार परीक्षा ली थी, उसमें पूरा उतरा। फिर तो उसकी लेखनी की तरह उसकी तलवार भी सराटे भरने लगी। जिस मुहिम पर जाता, विजय-लक्ष्मी उसके गले में जयमाल डालती। चित्तौड़, रणथंभोर और सूरत की विजयों में उसने अपना लोहा मनवा दिया और अपने समय के प्रौढ़ सम्मानित सेना-नायकों में गिना जाने लगा।

पर सबसे बड़ी मुहिम जिसने उसकी वीरता का सिक्का बिठा दिया और जिसमें उसने अपने जीवन के ७ साल लगा दिये, बंगाल की चढ़ाई थी। खांज़मां ने सन् १५६७ ई० में अपनी करनी

का फल पाया, और मुनइम खाँ खानखानाँ उसकी जगह सेनापति बनाया गया। पर कुछ तो वह स्वभाव से ही शान्ति-प्रिय था, और कुछ बंगाल के अफ़ग़ान-युद्ध ने तूल खींचा। अन्त को शाही फ़ौज के लोग आठों पहर की दौड़धूप से ऊब गये। जी चुराने लगे। अकबर को इन सब बातों की गुप्त सूचना मिलती रहती थी। सोचा कि किसी ऐसे दृढ़चित्त और अनुशासनविद् व्यक्ति को बंगाल भेजें जो सारी सेना को अनुशासन के शिकंजे में कस-कर उसकी नसें ढीली कर दे। ऐसा आदमी टोडरमल के सिवा और कोई दिखाई न दिया। अतः राजा कुछ नामी योद्धाओं के साथ बंगाल को रवाना हुआ।

बंगाल में राजा टोडरमल ने वह-वह काम किये जिनसे इति-हास के पन्ने सदा चमकते रहेंगे। यह उसी की बुद्धि-विचक्षणता थी जिसने सारे बंगाल में अकबर की दुहाई फिरवा दी। उसके एक हाथ में तलवार है, दूसरे में तेग़ा। काम की भीड़ से दम मारने की फ़ुरसत नहीं। कहीं तो वह तलवार में जौहर दिखाता है, कहीं काग़ज़ी घोड़े दौड़ाता है। रण में जहाँ अड़ जाता, वहाँ से हटना नहीं जानता। सिपाहियों को ऐसा बढ़ाता, ऐसा लल-कारता है कि हारी हुई लड़ाई जीत लेता है। यह उसी का दिल है कि तुर्क व तातारी सिपाहियों को, धोखा देना जिनकी घुट्टी में पड़ा हुआ है, कहीं मित्रोचित चेतावनी से, कहीं डरावे से, कहीं लालच से क़ाबू में रखता है। उसकी सतत विजय ने पठानों के छक्के छुड़ा दिये। दाऊद खाँ आख़िरी बार अपने दिल के अरमान निकालकर क़तल हुआ। बंगाल सूबे पर अकबरी पताका फहराने लगी और टोडरमल विजय की दुंदुभी बजाता, यश के घोड़े पर सवार राजधानी को लौटा और यथापूर्व मंत्रित्व के काम करने लगा। मोतमिदुद्दौला की उपाधि पाई, और विद्या से और भी मान-सम्मान का अधिकारी हुआ।

इसी बीच ख़बर मिली कि वज़ीर ख़ां की ग़ल्तियों से गुजरात

में गड़बड़ मच रही है। फ़ौरन टोडरमल को हुक्म हुआ कि जाकर वहाँ कि स्थिति को सुधारे। राजा साहब रवाना हुए और वहाँ पहुँचकर माल-महकमे आदि की जाँच करने लगे। इतने ही में यह गुल खिला कि गुजरात के कुछ फसादियों ने बग़ावत मचा दी। वज़ीर ख़ाँ की हिम्मत छूट गई। क़िला बंद हो गया और साथ ही दूत दौड़ाये कि भागा-भाग टोडरमल को खबर करें। राजा भला ऐसी ख़तरे और परेशानी की खबर सुनकर कब एक क्षण का विलंब सहन कर सकता था। तुरत बाग़ियों पर धावा किया। वज़ीर खां को मर्द बनाकर क़िले के बाहर निकाला और दुश्मनों को दोलका के तंग मैदान में जा लिया। वहाँ खूब घमा-सान की लड़ाई हुई। शत्रुपक्ष की नीयत थी कि राजा को ठिकाने लगावें। पहले ही घात लगाये बैठा था। परन्तु राजा की सिंह-सुलभ ललकार और वज्रघातिनी तलवार ने उसका सब ताना-बाना तोड़ डाला। यह मुहिम मारकर यशोमण्डित राजधानी को लौटा और दूना मान-सम्मान प्राप्त किया।

पर वह समय ही कुछ ऐसा घटनापूर्ण था और सच्चे कर्तव्य-निष्ठ कर्मचारियों का कुछ ऐसा टोटा था कि टोडरमल जैसे उत्साही कार्यकुशल सेवक को चैन से बैठना संभव न था। गुज-रात से आया ही था कि बङ्गाल में फिर जोर-शोर से आँधी उठी। पर इस बार उसका रंग कुछ और ही था। सेना और सरदार सेनापति से बाग़ी हो गये थे। अकबर ने टोडरमल को रवाना किया और उसने इस विप्लव को ऐसी चतुराई और सुन्दर युक्तियों से ठंडा किया कि किसी को कानोंकान खबर न हुई। नहीं तो दुश्मन कब सिर उठाने से बाज़ रहता! राजा से ईर्ष्या-द्वेष रखनेवाले कुछ पामरों ने घात लगाई थी कि सेना के निरीक्षण के समय राजा का काम तमाम कर दें, पर वह एक ही सयाना था, ऐसों के पंजे में कब आ सकता था। साफ़ निकल गया।

१५८२ ई० में आगरे को लौटा। अपनी सच्ची स्वामि-भक्ति और सेवाओं के कारण राज्य का 'दीवाने-कुल' अथवा अर्थ-मन्त्री बना दिया गया। और २२ सूबों पर उसकी कलम दौड़ने लगी। इस समय से मृत्युकाल तक टोडरमल को अपने कलम का जौहर और राज्यप्रबन्ध-विषयक प्रतिभा के चमत्कार दिखाने का ख़ूब मौका मिला। केवल एक बार यूसुफ़ज़इयों की मुहिम में राजा मानसिंह की सहायता को जाना पड़ा था।

यद्यपि राजा बहुत ही साधु-स्वभाव और शुद्ध निश्छल हृदय का व्यक्ति था, फिर भी १५८९ ई० में किसी दुश्मन ने उस पर तलवार चलाई। सौभाग्यवश वह तो बाल-बाल बच गया पर उसका फल एक अभागे खत्री बच्चे को भुगतना पड़ा। गहरा सन्देह है कि यह किसी द्वेष रखनेवाले सरदार वा अधिकारी का इशारा था। पर संभवतः यह हमला मौत का ही था। क्योंकि इस घटना के थोड़े ही दिन बाद राजा को इस लोक से विदा हो जाना पड़ा। निर्दयी ने दूसरा हमला ज्वर के रूप में किया और अब भी जान लेकर ही छोड़ा।

ऐतिहासिकों ने टोडरमल पर ख़ूब आलोचना-प्रत्यालोचना की है, पर जिन लोगों को उससे आत्यन्तिक मतभेद है, वह भी उसका भला ही मनाते हैं। अकबर के समस्त बड़े अधिकारियों और सरदारों में वह सबसे अधिक सच्चा और विश्वासी शुभ-चिन्तक था। उसके सिवा और कोई मन्त्री, सूबेदार आदि ऐसा न था जिसने दगा देने और नमकहरामी का धब्बा अपने ऊपर न लगाया हो। वही एक पुरुष है जिसकी नेकनामी की चादर बगले के पर की तरह स्वच्छ है। राग-द्वेष युक्त ऐतिहासिकों ने उस पर धब्बे लगाने की कोशिश जरूर की, पर विफल रहे।

टोडरमल की कारगुज़ारियों को बयान करना अकबर के राज्यकाल का इतिहास लिखना है। ऐसा कौन-सा विभाग था, दीवानी, माल या सेना, जिस पर टोडरमल की कार्य-कुशलता और

प्रबन्ध-पटुता की मुहर न लगी हो। शाही लशकर पहले कोसों में उतरा करता था। हाथीख़ाना कुछ यहाँ है तो कुछ वहाँ। तोपख़ाने का एक हिस्सा इस सिरे पर है तो दूसरा उस सिरे पर। सारांश बड़ी अस्त-व्यस्तता रहा करती थी। टोडरमल की नियमप्रिय प्रकृति ने पैदल, सवार, तोपख़ाना, रसद, बाज़ार, लश्कर आदि के उतारने के लिए व्यवस्थाएँ निकालीं। इसी सिलसिले में 'आइने दाग़' अर्थात् घोड़ों पर दाग़ लगाने के नियम की चर्चा भी आवश्यक मालूम होती है। पहले स्थायी सेना न रखी जाती थी, सामन्तों-सरदारों को जागीरें मिल जाया करती थीं और उनको हुक्म था कि जब आज्ञा हो अपनी नियत सेना के साथ दरबार में हाज़िर हुआ करें। सरदार इसमें दाव-पेच निकालकर जेब भरते, हाज़िरी और जाँच के समय घोड़ों की नियत संख्या इधर-उधर से माँग-जाँचकर दिखा देते। जब यह बला सिर से टल जाती तो फिर वही ढर्रा पकड़ लेते। टोडरमल ने इसका प्रतीकार भी किया कि जाँच के समय घोड़ों पर दाग़ लगा दिया जाता जिसमें धोखेबाज़ी का कोई मौक़ा न रहे।

सिकन्दर लोदी के जमाने तक हिन्दू लोग आम तौर से फ़ारसी या अरबी न पढ़ते थे, इन्हें 'म्लेच्छ-विद्या' कहते थे। टोडरमल ने प्रस्ताव किया कि सम्पूर्ण-भारत साम्राज्य के सब दफ़्तर फ़ारसी में हो जायँ। पहले तो हिन्दू इस योजना से चौंके, पर टोडरमल ने उनके दिलों में यह बात अच्छी तरह बैठा दी कि राजा की भाषा जीविका की कुञ्जी है। ऊँचे पद, अधिकार और सम्मान चाहते हो तो भाषा को सीखकर पा सकते हो, अकबर ने भी सहारा दिया, योजना चल निकली और कुछ ही साल के अरसे में बहुत-से हिन्दू फ़ारसी-दाँ हो गये। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि टोडरमल उर्दू भाषा का पूर्व-पुरुष है, क्योंकि यह उसी की दूरदर्शिता का फल है कि हिन्दुओं में फ़ारसी का चलन हुआ। फ़ारसी शब्द मामूली घरेलू बोल-चाल में

प्रयुक्त होने लगे, और इस प्रकार रेखते* से उर्दू की ज़ड़ मजबूत हुई।

टोडरमल गणना-शास्त्र—हिसाब-किताब की विद्या में अपने समय का सर्वमान्य आचार्य था। पहले शाही गणना-विभाग बिलकुल अव्यवस्थित था। कहीं काग़ज़ात फ़ारसी में थे, कहीं हिन्दी में। टोडरमल ने इस अस्त-व्यस्त स्थिति को भी नियम-व्यवस्था की शृङ्खला में बाँधा। यद्यपि इस सम्बन्ध में ख्वाजा-शाह मंसूर, मुज़फ्फर खाँ और आसिफ़ खाँ ने भी बड़े-बड़े काम किये, पर टोडरमल की कीर्ति की चमक-दमक के सामने उनका कुछ मूल्य न रहा। बहुत से नक़शे और तालिकाओं के नमूने 'आईने अकबरी' में दर्ज हैं, आज भी उन्हीं की ख़ानापुरी की जाती है। यहाँ तक कि सांकेतिक शब्दावली में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

पर सबसे महान् कार्य जो टोडरमल की यादगार है और जिसने सारे सभ्य-जगत् में अर्थनीतिज्ञों में उसको विशिष्ट स्थान दे रखा है, उसका मालगुज़ारी का बन्दोबस्त है जिसको संक्षेप में बता देना विस्तार-भय होते हुए भी, हम आवश्यक समझते हैं।

पहले मालगुज़ारी का प्रबन्ध कूते पर था। टोडरमल की सलाह से सारी अधिकृत भूमि की पैमाइश की गयी। पहले ज़रीब रस्सी की होती थी, इससे सूखी और तर ज़मीन में अन्तर पड़ जाता था। इसलिए बाँस के टोटों में लोहे की कड़ियाँ डाल-कर ज़रीबें तैयार की गईं। सारी सूखी और गीली ज़मीन मय पहाड़-जङ्गल, ऊसर, बञ्जर के नाप डाली गई। कुछ गाँवों का का परगना, कुछ परगनों की सरकार, और कुछ सरकारों का एक सूबा ठहराया गया। बन्दोबस्त दस साला नियत हुआ।

* उर्दू का पहला नाम जिसका अर्थ है—मिली-जुली खिचड़ी भाषा, क्योंकि उर्दू भाषा अरबी, फ़ारसी, तुर्की, हिन्दी आदि शब्दों की खिचड़ी है।

अब ३० साला नियत है। राजस्व का नियम यह बाँधा कि बारानी अर्थात् ऐसी जमीन में जहाँ वर्षा के जल से अन्न उत्पन्न होता हो, आधा किसान का और आधा बादशाह का और सिंचाईवाली ज़मीन में हर खेत पर चौथाई खर्च और उसकी खरीद-बेची की लागत लगाकर अनाज में एक तिहाई बादशाही। ईख इत्यादि पर जो आला जिन्स कहलाती है, और पानी निगरानी कमाई आदि की मेहनत अनाज से ज्यादा खाती हैं, प्रकार के अनुसार १।४, १।५, १।६ या १।७ हक़ बादशाही, बाकी हक़ काश्तकार। "आईने अकबरी" में इसके नियम जिन्सवार लिखे हैं।

यूरोपीय महापुरुषों की तरह टोडरमल ने भी हर काम को निश्चित सिद्धान्त और समयों के अनुसार करने की आदत डाल रखी थी। समस्त विभागों के दफ़्तर कठपुतली की तरह उसकी उँगली के इशारे पर काम करते थे। अकबर जैसा गुणों की परख करनेवाला बादशाह इन गुणों की क़द्र न करता, यह असम्भव था। इसमें सन्देह नहीं कि उसके नियम-प्रतिबन्धों के कारण— बड़े और प्रभावशाली लोग अकसर दिल में जला करते थे। इसी से अकबर के काल के इतिहास-लेखकों ने उसे अभिमानी और घमण्डी लिखा है। पर ध्यान रहे कि नियमनिष्ठ लोग अकसर स्वार्थी जनों की झूठी तुहमतों के शिकार हो जाते हैं। यह टोडरमल की सौम्य-वृत्ति और विवेकशीलता ही थी, जिससे वह अपनी इज्ज़त-आबरू सम्हाले रहा। नहीं तो दरबार के प्रभावशाली व्यक्तियों ने तो उसकी बुराई करने में कोई कसर न रखी थी।

टोडरमल को घमण्डी कहना वस्तुस्थिति पर धूल डालना है, बंगाल में उसने ७ साल तक असि-संचालन किया और यद्यपि सारी सेना उसकी भृकुटी के संकेत पर चलती थी, पर उसने कभी सेनापतित्व का दावा न किया। उसने अपने को ऊँचा करना

सीखा ही न था और अकबर जैसा गुण-पारखी मालिक उसको न मिल जाता तो किरानी का पद ही उसकी उन्नति का शिखर बनकर रह जाता। इस नम्रता के साथ प्रकृति में स्वाधीनता भी ऐसी थी कि बंगाल में मुनइम खाँ खानखानाँ ने जब दाऊद ख़ाँ से सुलह भी की, तो टोडरमल ने उसका विरोध किया। और अपनी बात पर ऐसा अड़ा कि संधिपत्र पर मुहर तक न की। इसी स्वाधीनता-प्रियता को जलन रखनेवालों की संकीर्णता ने घमंड और अहंकार का रूप दे दिया। इस स्वातंत्र्य-प्रियता के साथ स्पष्टभाषिता का गुण भी उसे काफ़ी मिला था। बादशाह के मुँह पर भी सच बात कहने से न चूकता। सैकड़ों लम्बी दाढ़ीवाले मुल्ला दरबार की हवा में आकर नास्तिकता की घोषणा करने लगे थे, पर टोडरमल अन्त समय तक कट्टर धर्मनिष्ठ हिन्दू बना रहा। जब तक ठाकुरजी की पूजा न कर लेता, अन्न मुँह में न डालता। इससे बढ़कर स्वतन्त्र विचार का होने का और क्या प्रमाण हो सकता है!

श्री गोपाल कृष्ण गोखले

भारतीय महापुरुषों में यों तो प्रायः सभी के जीवन-चरित्र अतिशय उत्साहवर्द्धक हैं, पर उस निष्काम देशभक्ति और आत्म-त्याग का उदाहरण, जिसने गोपाल कृष्ण गोखले को सारे राष्ट्र के लिए गर्व और गौरव की वस्तु बना रखा है, कठिनाई से और कहीं मिल सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि देश में आज ऐसी विभूतियाँ विद्यमान हैं, जिनका बुद्धि-वैभव अधिक विशाल है, जिनका पाण्डित्य अधिक गम्भीर है, जो पद-प्रतिष्ठा में आप से बड़े हैं, पर वह सच्चा देश-प्रेम जिसके कारण आपने अपने आपको देश पर निछावर कर दिया है, अपनी विस्तृति, गहराई और लगन में बेजोड़ है। आपका जीवन उत्साही युवकों के लिए उच्चाकांक्षा का अनुकरणीय उदाहरण है। आज आपको देश के राजनीतिक मंडलों में बहुत ही ऊँचा पद प्राप्त है। और यह कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि आपके देशवासी आपकी पूजा करते हैं। इसका प्रमाण इससे बढ़कर और क्या हो सकता है कि महात्मा गांधी जैसे पूजनीय पुरुष भी आपको अपना गुरु मानते हैं। और इसमें तो शक-सुबहे की गुंजाइश ही नहीं है कि व्यवस्थापिका सभा में आपने जो बड़े-बड़े काम किये हैं वह उसके इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे।

गोखले का जन्म १८६३ ई० में महाराष्ट्र के कोल्हापुर नगर में हुआ। मा-बाप अगर निर्धन और अर्थकष्ट में न थे तो किसी प्रकार सम्पन्न भी न थे। आपने वहाँ के स्कूलों में पढ़कर एफ० ए० पास किया और फिर बम्बई जाकर एलफ़िंस्टन कालिज में

नाम लिखाया। प्राचीनता और देशोपकार की दृष्टि से यह कालिज भारत के सब कालिजों का सिरमौर है। दादा भाई नौरोजी, सर फ़ीरोज़ शाह मेहता जैसे राष्ट्रनायकों की शिक्षा-शाला होने का गौरव इसी कालेज को प्राप्त है। मिस्टर गोखले की नैसर्गिक प्रतिभा की यहाँ बहुत जल्दी धूम मच गई। विद्यार्थी और अध्यापक सभी आदर की दृष्टि से देखने लगे। गणित से आपको विशेष रुचि थी और कालेज के गणिताध्यापक मिस्टर हाथार्न अपने होनहार शिष्य के बुद्धि-वैभव पर गर्व किया करते थे। चूँकि आपके मा-बाप पढ़ाई का ख़र्च न उठा सकते थे, इसलिए यह अत्यावश्यक था कि परीक्षाफल ऐसा हो जिससे आप छात्रवृत्ति के अधिकारी ठहराये जायँ और कोई भी आदमी जो आप और आपके गुणों से परिचित था, आपकी सफलता में रत्ती बराबर भी संदेह न कर सकता था। पर कुछ ऐसे संयोग उपस्थित हुए कि आप सम्मान के साथ बी० ए० की उपाधि न प्राप्त कर सके। इस विफलता से आपको जो दुःख हुआ उसका अंदाजा वही अच्छी तरह कर सकता है, जिसकी आशाओं पर इस प्रकार पानी फिर गया हो। अन्त में जीविका की चिन्ता आपको पूने ले गई। यहाँ इंजीनियरिङ्ग कालेज में भरती होने का विचार था जिसके लिए गणित में प्रवीण होने से आप विशेष रूप से उपयुक्त थे। पर असफलता फिर अपना अमंगल-रूप लेकर सामने आई। प्रवेश की परीक्षा समाप्त हो चुकी थी और प्रिंसपल ने आपको भरती करने में असमर्थता प्रकट की। इस नई विफलता से आपका मन और भी छोटा हो गया। फल मन-चाहा होता तो आप किसी डिवीज़न के इंजीनियर हो जाते और धन-वैभव के विचार से आपकी स्थिति कहीं अच्छी होती। मगर फिर आपके हृदय-मस्तिष्क के उच्च गुणों की अभिव्यक्ति जाने किस क्षेत्र में होती। सच तो यह है कि आपके भाग्य में देश और जाति पर निछावर होना लिखा था। आपकी वह विफलताएँ

जो आपकी निजी आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक हुईं, राष्ट्र के लिए ईश्वर की बहुत बड़ी देन सिद्ध हुईं। भगवान करे, ऐसी विफलताएँ जिनके शुभ परिणामों पर सहस्रों सफलताएँ ईर्ष्या करें, सबको प्राप्त हों।

उसी समय वहाँ दक्षिण के कुछ उदार हृदय, उत्साही देश-भक्तों ने जनसाधारण की शिक्षा के लिए एक अंग्रेज़ी स्कूल खोला था और मिस्टर तिलक, मिस्टर आपटे और अन्य महानुभावों के संरक्षण में 'डेकन एजुकेशन सोसाइटी' नाम से संस्था स्थापित हुई थी, जिसका उद्देश्य उच्च शिक्षा का प्रचार करना था। मिस्टर गोखले ने जीविका का और कोई उपाय न देख, इसी विद्यालय में एक पद स्वीकार कर लिया। आगे चलकर यही विद्यालय फर्गुसन कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज तक दक्षिण की सहानुभूति, देश-सेवा के उत्साह और आत्म-त्याग के सजीव स्मारक-रूप में विद्यमान है। उक्त शिक्षा-संस्था के प्रत्येक सदस्य को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि मैं इस कालेज में बिना पारिश्रमिक का विचार किये, यथाशक्ति शिक्षण-कार्य करता रहूँगा। भारतवर्ष अनन्तकाल तक उन महानुभावों के आत्म-त्याग का ऋणी रहेगा, जिन्होंने अपने निजी लाभ की ओर न देखकर अपना जीवन देश-सेवा के लिए अर्पण कर दिया और जिनके सत्यप्रयत्न के फलस्वरूप एक छोटा-सा स्कूल आज देश का एक सुविख्यात और सुसन्मानित राष्ट्रीय महाविद्यालय है। प्रसन्नता की बात है कि देश-सेवा का उत्साह जिसने फ़र्गुसन कालेज को पाला-पोसा, आज हमारे ज्ञानालोक से वंचित प्रान्त में भी विशेष-रूप से प्रकट हो रहा है और कुछ प्रगतिशील देश-भक्तों ने सेंट्रल हिन्दूकालेज के लिए अपना ज़ीवन अर्पण कर दिया है और उनकी यह तपस्या आगे चलकर अवश्य सफल होगी।

मध्यवित्त वर्ग के दूसरे नवयुवकों की तरह गोखले के हृदय में भी नाम-प्रतिष्ठा के अतिरिक्त धन-सम्पत्ति की भी आकांक्षा

भरी हुई थी। यह नौकरी उन्होंने आवश्यकता से विवश होकर केवल अस्थायी रूप में स्वीकार कर ली थी। पर जब संस्था के सदस्यों के साथ उठने-बैठने, रहने-सहने और विचार-विनिमय का अवसर मिला तो उनके उदार और सहानुभूति-युक्त विचारों का इन पर भी गहरा असर पड़ा। आप भी उसी रंग में रँग गये और देश-सेवा की उमंग इतनी उमड़ी कि नाम, बड़ाई, धन-दौलत के हवाई क़िले क्षण में धराशायी हो गये। आप जैसे युवक के लिए जिसके पास न पैतृक सम्पत्ति थी और न आमदनी बढ़ाने का और कोई जरिया, इस शिक्षा-संस्था के उद्योगों में हाथ बँटाना साधारण बात न थी। ख़ासकर उस अवस्था में जब कि उन पर बहुतों के भरण-पोषण का भार हो, प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने से पहले कुछ समय तक आप बड़े पसोपेश में पड़े हुए थे, पर अंत में देश-प्रेम की विजय हुई और आप डेकन एजुकेशन सोसाइटी में सम्मिलित हो गये, जिसका अर्थ यह था कि आप ७५) रुपये मासिक वेतन को उन्नति की चरम-सीमा समझकर २० वर्ष तक शिक्षण-कार्य करते रहें। इस त्याग से प्रकट हो सकता है कि आपकी दृष्टि में लोकहित का दरजा दूसरी लौकिक इच्छाओं की तुलना में क्या था। जब इस बात को सोचिए कि उस समय आपकी अवस्था कुल जमा १८ साल की थी, जब हृदय में उमंगों, आकांक्षाओं का सागर लहराता रहता है, तो स्वीकार करना पड़ता है कि आप सचमुच देवता थे। ऐसे देशभक्त तो बहुत मिलेंगे जो संसार के सुख-भोग से परितृप्त हो जाने के बाद अन्त के थोड़े-से दिन देशकार्य को दे दिया करते हैं, पर ऐसे कितने हैं जो मिस्टर गोखले की तरह अपना तन, मन, धन सब राष्ट्र के चरणों पर समर्पण कर देने को प्रस्तुत हो जायँ ?

उक्त संस्था में सम्मिलित होने के बाद आप बड़ी लगन, उत्साह और एकनिष्ठता के साथ अध्यापन-कार्य में जुट गये। अपने उत्साह और परिश्रम के कारण थोड़े ही समय में अध्यापकों

में आपको विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया। और कुछ ही दिनों में आप कालेज के प्राण हो गये। उस समय कालेज की आर्थिक अवस्था ऐसी बुरी हो रही थी कि मजबूरन् एक मामूली-से मकान में गुज़र करना पड़ता था। आपने उसके लिए एक यथायोग्य, भव्य भवन बनवाने का निश्चय किया और अपने सहयोगियों के साथ दक्षिण देश का दौरा शुरू किया। लगभग तीन बरस के अथक प्रयास के बाद आप ने दो लाख रुपए एकत्र कर लिये। इस सफलता ने आपकी उद्योग-शीलता, कार्य-कुशलता और प्रबन्ध-पटुता का सिक्का बिठा दिया। कालेज के लिए जल्द ही एक आलीशान इमारत बनकर तैयार हो गई जो सदा दाक्षिणात्यों की सच्ची देश-भक्ति और निःस्वार्थ प्रयत्न का प्रतीक बनी रहेगी। इस महिमा-मण्डित कालेज और उसके सच्ची लगनवाले कार्य-कर्ताओं के श्रम और उद्योग की सराहना लार्ड नार्थकोट और अन्य सज्जनों ने जिन शब्दों में की है, वह निश्चय ही अति उत्साह-वद्धंक है।

चूँकि देश को गोखले का चिरऋणी होना था, इसलिए उसके सामान भी दैवगति से इकट्ठा होते गये। शिक्षा-सम्बन्धी कार्य करते अभी पूरे तीन बरस भी न हुए थे कि आपको उस विद्या-गुण से पूरे, देवोपम, उदारहृदय, महापुरुष की शिष्यता का सुयोग प्राप्त हुआ जिसका यश आज भारत का बच्चा-बच्चा गा रहा है। ऐसा कौन होगा जो स्वर्गीय महादेव गोविन्द रानाडे के पुनीत नाम से परिचित न हो? हिन्दुस्तान की हर दरो-दीवार आज उस पुण्यकीर्ति का गुणगान कर रही है। उनका जीवन संसार के सम्पूर्ण सद्गुणों का उज्ज्वल उदाहरण है। उस देश के प्यारे के हृदय में देश और जाति की याद हरदम बनी रहती थी। भारतवर्ष की ऐसी कौन-सी सभा-समिति थी ज़िसको उस साधु पुरुष से कुछ सहायता न मिली हो। उन दिनों पूने की सार्वजनिक सभा की ओर से पत्र निकालने के लिए एक उत्साही,

परिश्रमी, प्रगतिशील विचारवाले युवक की आवश्यकता थी। मिस्टर गोखले की उम्र उस समय २२ साल से अधिक न थी। कितने ही परिपक्व वय और अनुभववाले सज्जन इस पद के लिए दावेदार थे। पर श्रीयुत रानाडे की जौहरी निगाह में इस कार्य के लिए आप से अधिक उपयुक्त दूसरा दिखाई न दिया। वाह क्या परख थी! बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि रानाडे का चुनाव इससे अच्छा हो ही नहीं सकता था।

पत्र-सम्पादन का भार अपने ऊपर लेते ही आपने देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं का गम्भीर अध्ययन आरम्भ कर दिया, और इन गुत्थियों को सुलझाने के लिए मिस्टर रानाडे से अधिक उपयुक्त व्यक्ति और कौन हो सकता था। एक सज्जन का कथन है कि 'मिस्टर गोखले एक राष्ट्रीय मीरास है जो स्वर्गीय रानाडे ने देश को प्रदान किया है।' और यह कथन सर्वथा सत्य है। इससे कौन इनकार कर सकता है कि आप अपने गुरु के रंग में नख से शिख तक डूबे हुए थे। एक भाषण में स्वयं सगर्व कहा था कि 'मुझे १२ वर्ष तक उस महामति की शिष्यता का गौरव प्राप्त रहा और इस बीच मैंने उनके उपदेशों से अमित लाभ उठाया।' इन शब्दों में कितनी श्रद्धा भरी है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। धन्य हैं वह देवोपम गुरु और गुणशाली शिष्य। आज मिस्टर रानाडे की आत्मा स्वर्ग में अपने शिष्य की निःस्वार्थ देश-सेवा को देखकर आनंद में झूम रही होगी। मिस्टर गोखले को देश के आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नों पर जो असाधारण अधिकार प्राप्त था, वह उसी महानुभाव के सत्संग का प्रसाद था। इस १२ वर्ष के शिष्यत्व में आपने कितनी ही आर्थिक रिपोर्टों और पत्रों के खुलासे किये जो संशोधन के लिए श्रीयुत रानाडे की सेवा में उपस्थित किये जाते थे। और इसमें कोई संदेह है कि उनके संशोधन श्रद्धावान् शिष्य के लिए आफ़त का सामान हो जाती थीं! वह उसी कठिन साधना का सुफल

था कि सरकारी आर्थिक रिपोर्टों की भूल-भुलैया को कोई चीज़ न समझते थे और चुटकी बजाते दूध का दूध, पानी का पानी अलग करके दिखा देते थे।

मिस्टर रानाडे का सान्निध्य प्राप्त करने से आपको केवल यही लाभ नहीं हुआ कि आपको देश के उपस्थित प्रश्नों का मार्मिक ज्ञान हो गया, किंतु दिन-रात के साथ ने आपके हृदय पर भी अपने गुरु की श्रम-शीलता, दृष्टि की व्यापकता, विचारों की उदारता, निष्पक्षता, विवेचना-शक्ति और सचाई की ऐसी गहरी छाप डाल दी कि ज्यों-ज्यों दिन बीते, वह मिटने के बदले और उभरती गई। आठ बरस तक आपने शिक्षण-कार्य करने के अतिरिक्त सार्वजनिक सभा के पत्र 'ज्ञानप्रकाश' को मिस्टर रानाडे के तत्त्वाधान में बड़ी योग्यता से चलाया। आपके मत ऐसे प्रौढ़ और पक्के होते थे और आपके लेखों में वह सजीवता, नवीनता और ओज होता था कि थोड़े ही दिनों में वह पत्र शिक्षित-समुदाय में आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। और सबको मालूम हो गया कि देश के सार्वजनिक जीवन में एक बड़े ही योग्य व्यक्ति की वृद्धि हुई। इसका व्यावहारिक प्रमाण यह मिला कि आप बम्बई प्रान्तीय कौंसिल के मंत्री बना दिये गये और चार साल तक इस कार्य को भी आपने बड़ी तत्परता और योग्यता के साथ किया।

इन सेवाओं की बदौलत आप की कीर्ति देश के दूसरे प्रान्तों में भी कस्तूरी की गन्ध की तरह फैलने लगी और अन्त में १८९७ ई० में आप इण्डियन नैशनल कांग्रेस के मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित हुए। इसी साल आपको अपनी देश-भक्ति का परिचय देने का एक सुयोग हाथ लगा। कांग्रेस और अन्य देश-हितैषी बहुत अरसे से यह शिकायत करते आ रहे थे कि ऊँचे पदों पर आम तौर से अंग्रेज़ ही नियुक्त किये जाते हैं और भारतवासी अधिक योग्यता रखने पर भी उनसे वंचित रहते हैं। अन्त में

पार्लमेंट का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और लार्ड विलवी की अध्यक्षता में एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया कि इस बात की जाँच-पड़ताल करे कि यह शिकायतें कहाँ तक साधार हैं और कुछ ऐसी तजवीजें पेश करे जो सरकार के लिए नियमावली का काम दें। दुःख है कि ब्रिटिश नेकनीयती और न्याय-निष्ठा का यह अन्तिम परिचय और प्रमाण था और ऐंग्लो इंडियन वर्ग ने जिस वेदर्दी के साथ इन प्रस्तावों का दलन किया वह उनके आचरण और नीति पर सदा एक काला धब्बा बना रहेगा।

उस समय तक मिस्टर गोखले की सूक्ष्मदर्शिता, ओज-भरे वक्तृत्व, भारतीय प्रश्नों से सम्यक् अभिज्ञता और आर्थिक विषयों की समीक्षा की योग्यता की सारे भारत में धूम मच रही थी, इसलिए दक्षिण के लोगों के प्रतिनिधि बनाकर विलवी कमीशन के सामने मत-प्रकाश के लिए भेजे गये। मिस्टर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, मिस्टर दीनशा ईदुलजी वाचा और मिस्टर सुब्रह्मण्य ऐयर के साथ आप इंगलैण्ड गये। वहाँ कमीशन के सामने आपने जो भाषण किया वह भाषा के सौष्ठव और ओज, युक्ति, तर्कों की सबलता और देश-भक्ति के उत्साह की दृष्टि से बेजोड़ है। यद्यपि यह भाषण बड़ा लम्बा था, फिर भी कमिश्नरों ने बड़ी उदारता और प्रसन्नता के साथ उसकी सराहना की और इसमें भी सन्देह नहीं कि उनके प्रस्तावों पर उसका गहरा असर पड़ा। भारत की ग़रीबी और सरकार की अनुचित कठोरता का करुण शब्दों में वर्णन करने के अनन्तर आपने कहा—

> 'वर्तमान शासन-प्रणाली का यह परिणाम हो रहा है कि हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति दिन-दिन छीजती जा रही है। हम दैन्य और अपमान का जीवन स्वीकार करने को बाध्य किये जाते हैं। पद-पद पर हमको इस बात की याद दिलाई जाती है कि हम एक दलित जाति के जन हैं। हमारी स्वाधीनता का गला बेदर्दी से घोंटा जा रहा है,

और यह सब केवल इसलिए कि वर्तमान शासन-व्यवस्था की नींव और मजबूत हो जाय। इंगलैण्ड का हर एक युवक जिसको ईश्वर ने बुद्धि और उत्साह के गुण प्रदान किये हैं, आशा करता है कि मैं भी किसी न किसी दिन राष्ट्र-रूपी जहाज़ का कप्तान बनूँगा, मैं भी किसी न किसी दिन ग्लैडस्टन का पद और नेलसन का यश प्राप्त करूँगा। यह भावना एक स्वप्न-मात्र क्यों न हो, पर उसके उत्साह और उच्चाकांक्षा को उभारती है। वह जी-जान से गुण सीखने और योग्यता बढ़ाने के यत्न में लग जाता है। हमारे देश के अभागे नौजवान ऐसे उत्साह-वद्र्धक स्वप्न नहीं देख सकते। वे ऐसे ऊँचे हवाई महल भी नहीं उठा सकते। वर्तमान शासन-प्रणाली के रहते यह सम्भव नहीं कि हम उस ऊँचाई तक पहुँच सकें, जिसकी शक्ति और योग्यता प्रकृति ने हमें प्रदान की है। वह नीति-बल जो प्रत्येक स्वाधीन जाति का का विशेष गुण है, हममें लुप्त होता जा रहा है। अन्त में इस स्थिति का शोचनीय परिणाम यही होगा कि हमारी शासन-प्रबन्ध और युद्ध की योग्यता, अव्यवहारवश नष्ट हो जायगी और हमारी जाति का इतना अधःपतन हो जायगा कि हम लकड़ी काटने और पानी भरने के सिवा और किसी काम के न रह जायँगे।'

कमीशन के सामने गवाही देने के बाद मिस्टर गोखले ने लण्डन और इंगलैंड के दूसरे जिलों का भ्रमण आरम्भ किया जिसमें अपनी ज़ोरदार वक्तृताओं से ब्रिटिश जनता के हृदय में भारत के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करें और इस देश की स्थिति के विषय में उनकी शोचनीय उपेक्षा तथा अनभिज्ञता को दूर करें। आपके इन सत्प्रयत्नों की दाद ब्रिटिश जनता ने दिल खोलकर की। आपके भाषणों के साथ बड़ी दिलचस्पी दिखाई गई। सब ओर से साधुवाद की वर्षा होने लगी, बधाई के पत्र आने

लगे और कुछ ही दिनों में सब पर आपके वक्तृत्व और विद्वत्ता का सिक्का बैठ गया। पर ठीक उस समय जब आप कृतकार्य होकर भारत लौटनेवाले थे, एक अनिष्ट घटना घटित हुई जिसके कारण कुछ दिनों तक आपको अपने अनभिज्ञ नाक़द्रे देशवासियों से लांछित होना, उनके निष्ठुर व्यंग्य-आक्षेपों का निशाना बनना पड़ा। उन दिनों बम्बई के शासन की बागडोर लार्ड सैंडर्स्ट के हाथों में थी। प्लेग के प्रतिबंध के लिए आपने बड़े कड़े नियम प्रचारित किये थे और उनको काम में लानेवाले अहलकार उन पर हाशिया चढ़ाकर जनता पर अवर्णनीय अत्याचार करते। सो जब पूने में इस महामारी का प्रकोप हुआ और सरकारी कर्मचारी उसके प्रतिबंध की धुन में अँधेर मचाने लगे तो जनता भड़क उठी। शिक्षित जनों को भी अधिकारियों का यह हस्तक्षेप अनुचित जान पड़ा। उन्होंने इसका ज़ोरों से विरोध किया। समाचार-पत्रों ने भी उनका साथ दिया। पर नौकरशाही की निद्रा न टूटी। अन्त में दो अंग्रेज़ों—रेंड और आयर्स्ट—को, जो जनता की भी निगाह में इन सारी ज़्यादतियों के लिए कारणभूत थे, सरकार की करनी और जनता के क्रोध का फल भुगतना पड़ा।

इन दो अंग्रेज़ों के क़तल से अंग्रेज़ अधिकारियों के कान खड़े हो गये। उनको संदेह हुआ कि यह उपद्रव शिक्षित-वर्ग का उठाया हुआ है। अंग्रेज़ी अख़बारों ने भी हल्ला मचाना शुरू किया और प्रतिहिंसा के आवेश में ईश्वर जाने क्या-क्या लिख डाला। किसी ने सलाह दी—हिन्दुस्तानी अख़बारों की धज्जियाँ उड़ा दो। किसी ने कहा—पूने की ईंट से ईंट बजा दो। भारतीय पत्रों का साहस भी सराहनीय है कि वह सच कहने से न चूके; अंग्रेज़ों का ख़ूब तुर्की-ब-तुर्की जवाब दिया। नतीजा यह हुआ कि सरकार ने कुछ देश-भक्तों के रक्त से अपने क्रोध की आग ठंडी की। ऐंग्लो-इंडियन समुदाय ने घी के चिराग जलाये, ख़ुशी मनाई और सरकार के अति कृतज्ञ हुए।

मिस्टर गोखले अभी इंगलैंड में ही थे कि उनके मित्रों ने भारत (बम्बई ?) सरकार के अत्याचार-उत्पीड़न के दिल हिला देनेवाले विवरण पूने से लिख-लिखकर भेजना आरम्भ कर दिये। उनको आशा थी कि आप इंगलैंड में सरकार की इन अनुचित कारवाइयों को मशहूर करके उनकी ओर पार्लमेन्ट का ध्यान खींच सकेंगे। अपने देशवासियों की यह दुर्दशा ऐसे देशभक्त के—जो देश पर तन-मन वार चुका हो—जोश को न उभारे, यह असम्भव था। फिर भी आपने बड़े धैर्य और संयम से काम लिया। आप भली भाँति जानते थे कि सरकार पर यह इलज़ाम लगाने के लिए सबूत जुटाना असम्भव हो जायगा और इन घटनाओं को प्रकट करने के पूर्व आपने बड़े सोच-विचार से काम लिया। पर इसी बीच रैंड और आयर्स्ट की हत्या का भयावना समाचार पहुँचा और उसने ब्रिटिश जनता में अजीब हलचल मचा दी। भारतीयों को दण्ड देने के उपाय सोचे जाने लगे। अफ़वाह उड़ी कि पूने के २५ प्रतिष्ठित और प्रभावशाली जन फाँसी पर लटका दिये जायँगे। इसी प्रकार के और भी आतंक-जनक समाचार जो सर्वथा निराधार थे, प्रसिद्ध हुए।

अब आप से ज़ब्त न हो सका और आवश्यक हो गया कि आप भी अपनी आवाज़ उठायें। अतः आपने उन पत्रों के आधार पर जो पूने से आपके मित्रों ने लिखे थे, सरकार की अनुचित कठोरता और अत्याचार की जोरदार शब्दों में घोषणा की और यह साबित करने की कोशिश की कि यह प्रजा का दोष नहीं है कि वह सरकार से विमुख हो रही है, किन्तु सरकार की नासमझी है कि वह उसे दुःख देकर उत्तेजित कर रही है। आपने जो कुछ कहा वह केवल उन्हीं पत्रों के आधार पर था। पर तत्कालीन भारत-सचिव लार्ड जार्ज हेमिलटन ने, लार्ड सैंडर्स्ट के पत्र के आधार पर आपके बयान और इलज़ामों का खण्डन किया। अब आपके लिए इसके सिवा और कोई उपाय न रहा कि

या तो तथ्यों और प्रमाणों से अपने अभियोगों को सिद्ध करें या लज्जा-पूर्वक उनको वापस लें। अस्तु, आप भारत लौटे पर इसी बीच बम्बई सरकार ने पूने के मुखियों की गिरफ़्तारी का हुक्म निकाल दिया था और जब आप अदन पहुँचे तो उन्हीं ख़बर देनेवाले मित्रों के पत्र मिले, जिनमें प्रार्थना की गई थी कि हमारे नाम न प्रकट किये जायँ। गिरफ़्तारी के हुक्म ने उन लोगों को इतना भयभीत कर दिया था कि वह क़सम खाने को तैयार थे कि वह पत्र हमारे लिखे हुए न थे। मित्रों के इस तरह धोखा देने और कायरपन दिखाने से उस निर्मल; निष्पाप हृदय को जो चिन्ता और व्यथा हुई, उसका अनुमान करना असम्भव है।

कुछ दिन तक सबको भय था कि आप सदा के लिए सार्व-जनिक जीवन से अलग हो जाने को विवश किये जायँगे। आपको निश्चय हो गया कि उन अभियोगों को जो मैंने सरकार पर लगाये हैं, साबित करना कठिन ही नहीं स्पष्टतः असाध्य कार्य है, इसलिए अब शराफ़त और मर्दानगी का अनुरोध यही था कि आप भूल-स्वीकार और खेद-प्रकाश के द्वारा अपने उन शब्दों का शोधन-मार्जन करें जिनसे सरकार के आचरण पर धब्बा लगता था। जब अपने दावे को साबित करने का कोई उपाय दिखाई न देता था, तब भी उस पर अड़े रहना आपकी न्यायशील दृष्टि में सरकार का अकारण अपमान करना था। अतः सब पहलुओं पर भली-भाँति विचार कर लेने के बाद आपने अपनी सुप्रसिद्ध क्षमा-याचना प्रकाशित की। पर आपके देशवासी जो वस्तु-स्थिति से पूर्ण परिचित न थे, तुरत आप से अप्रसन्न हो गये और आपके इस कार्य को अव्यवस्थितचित्तता तथा भीरुता बताया। बड़ी निष्ठुरता से आप पर भर्त्सना के बाण बरसाये गये। यहाँ तक कि 'मिलीमार' और ख़ुशामद के इलज़ाम भी लगाये गये। यद्यपि उस समय भी भारत और इंगलैण्ड दोनों ही देशों में ऐसे न्यायशील और दृढ़ विचार के पुरुष विद्यमान थे, जिन्होंने दिल

खोलकर आपके इस सत्साहस की सराहना की। स्वर्गीय जस्टिस रानाडे ने, जो अपने सुयोग्य और सच्चे शिष्य की गति-विधि को पितृसुलभ स्नेह और उत्सुकता से देख रहे थे, आपके इस प्रकार हृदय-शुद्धि का प्रमाण देने पर प्रसन्नता प्रकट की। पर धन्य है वह उदाराशयता और महानुभावता कि मित्रों और शुभचिन्तकों के दिल को टुकड़े-टुकड़े कर देनेवाले वचन और कर्म आपके उत्साह को तनिक भी घटा न सके। आपने इस फारसी कहावत—'हरचे अज़ दोस्त मीरसद नेकोस्त' (मित्र से जो कुछ भी मिले शुभ ही होगा।) का अनुसरण कर सारे निन्दा अपमान को माथे चढ़ा लिया। ऐसी स्थिति में एक बनावटी देश-भक्त अपने देशवासियों को कृतघ्नता का दोषी ठहराना, देश की नाक़द्री और बेवफ़ाई का रोना रोता और शायद सदा के लिए सार्वजनिक जीवन से मुँह फेर लेता। पर आप उन देश-भक्तों में नहीं थे। जन्मभूमि का प्रेम और भाइयों की भलाई का भाव आपकी प्रकृति बन गया था। अपनी सहज अध्यवसाय-शीलता और एकाग्रता से फिर स्वदेश की सेवा में जुट गये और प्रसन्नता की बात है कि वह दिन जल्दी ही आया कि आपके, भ्रम में पड़े हुए विरोधी अपने आक्षेपों पर लज्जित हुए।

अभी पत्रकारों का क्रोध ठंढा न हुआ था कि बंबई में प्लेग से त्राहि-त्राहि मच गई। लोग लड़के-वाले, घरबार छोड़-छाड़कर भागने लगे। आवश्यक जान पड़ा कि उत्साही देश-भक्त रोगियों की चिकित्सा और सेवा के लिए अपनी जान जोखिम में डालें। जिस आदमी ने सबसे पहले इस भयावनी घाटी में क़दम रखा वह श्री गोखले ही थे। जिस तत्परता, तन्मयता और विनम्रता के साथ आपने प्लेग-प्रतिबन्धक अधिकारियों का हाथ बँटाया वह आपका ही हिस्सा था। सारा देश आपकी प्रशंसा से गूँजने लगा। लार्ड सैंडर्स्ट भी जिन्होंने पहले कितनी ही बार आप पर चोटें की थीं, इस समय आपकी देश-भक्ति और जनता के प्रति सच्ची

सहानुभूति के क़ायल हो गये और कौंसिल में आपको धन्यवाद देकर अपना गौरव बढ़ाया।

लोकहित में आपका अथक प्रयास देखकर देश फिर आपका भक्त बन गया। दक्षिण के लोगों ने सर्वसम्मति से आपको बंबई-कौंशिल की सदस्यता पर प्रतिष्ठित किया। यहाँ आपने ऐसी लगन और एकनिष्ठता से देश की सेवा की कि सबके हृदय में आपके लिए आदर-सम्मान उत्पन्न हो गया। 'बाम्बे लैण्ड रेवेन्यू' (मालगुज़ारी) बिल के सम्बन्ध में जो ज़ोरदार बहसें हुई उनमें आपने प्रमुख भाग लिया और सरकार को विश्वास दिला दिया कि ग़ैरसरकारी सदस्य सरकार के कार्यों की टीका विरोध की नीयत से नहीं करते, किन्तु सद्भावमय सहयोग की नीयत से करते हैं। विदेशी सरकारों में सदा यह दोष रहता है कि उनकी हरेक तजवीज़ के दो पहलू हुआ करते हैं। सरकार अपने पहलू के हानि-लाभ पर तो विचार कर लेती है। पर ग़रीब प्रजा के पक्ष की सर्वथा उपेक्षा कर जाती है। आपने सदा सच्चे मन से इसका यत्न किया कि सरकार के सामने आनेवाले प्रत्येक प्रश्न और योजना की प्रजा की दृष्टि से समीक्षा करें और सरकार को उसके अवश्यम्भावी परिणाम सुझायें, जिसमें वह प्रजा के, विचारों और आवश्यकताओं को जानकर उसकी भलाई की चिन्ता और उपाय करती रहे।

इन महत्त्व-पूर्ण सेवाओं के कारण आपके प्रशंसकों और भक्तों की परिधि और भी विस्तृत हो गई और आप बम्बई की ओर से वाइसराय की कौंसिल के ग़ैर सरकारी सदस्य चुने गये। सार्वजनिक जीवन से दिलचस्पी रखनेवाला हर एक आदमी जानता है कि वहाँ आपने अपने कर्तव्यों का पालन कितने परि-श्रम, सचाई और जागरूकता के साथ किया। आपकी वक्तृताएँ खोज, बहुज्ञता, ओजस्विता और साहस भरी भाषा की दृष्टि से अपना जवाब नहीं रखतीं। यूनिवर्सिटी बिल, और आफ़ीशल

सीक्रेट (सरकारी रहस्य-गोपन) बिल के विरोध में आपकी लल-कारें अभी तक हमारे कानों में गूँज रही हैं और आशा है कि आपकी ये वक्तृताएँ सदा अपने रङ्ग की सर्वोत्तम वक्तृताएँ मानी जायँगी। आपके गर्जन से लार्ड कर्ज़न जैसे शेर की भी बोलती बन्द हो जाती थी। इसमें संदेह नहीं कि बड़ी कौंसिल में आप ही एक योद्धा थे, जिससे लार्ड महोदय आँखें बचाते फिरते थे। आपकी आलोचनाओं पर अकसर विरोध की नीयत का सन्देह किया गया, पर उसका कारण केवल यह है कि लार्ड कर्ज़न जैसा अभिमानी निरङ्कुश व्यक्ति अपनी कारवाइयों का भंडा फोड़ होना सहन नहीं कर सकता था, इसलिए आपकी नीयत में बुराई दिखाकर अपने दिल का गुबार निकाल लेता था।

आप जैसे विद्वान् और बहुज्ञ व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं थी कि विदेशी सरकार सदा जनता की सहानुभूति से वञ्चित और ग़लतफ़हमियों का शिकार बनी रहती है। उसको एक-एक क़दम खूब ऊँचा-नीचा देखकर धरना होता है। इसी दृष्टि से आपने कभी सरकार को जनसाधारण की निगाह में गिराने या दोषी बनाने की चेष्टा नहीं की; बल्कि जब कभी मौक़ा मिला, बड़े गर्व से उन बड़े-बड़े लाभों की चर्चा की जो अंग्रेज़ी राज्य की बदौलत हमें प्राप्त हैं। अँग्रेज़ों की प्रामाणिकता, शुद्ध व्यवहार और नेकनीयती के आप सदा से प्रशंसक थे, पर इसके साथ ही उन दोष-त्रुटियों से भी अनभिज्ञ नहीं थे, जो अँग्रेज़ी शासन में मौजूद हैं और जिन्होंने उसको बदनाम कर रखा है। आपका विश्वास था कि यह दोष बदनीयती के कारण नहीं है, किन्तु गलत और अनुपयुक्त सिद्धान्तों को काम में लाने के कारण हैं, और उसका उपाय कोई हो सकता है तो यही कि भारतवासियों को शिक्षा-सम्पादन की प्रगति के साथ-साथ राजकाज में भी अधिकाधिक भाग लेने का अवसर दिया जाय। उनकी आवाज़ें अधिक सहानुभूति के साथ सुनी जायँ, उनके गुणों तथा योग्यता

का आदर अधिक उदारता के साथ किया जाय। और उनकी अपनी जिम्मेदारी आप उठाने की योग्यता उत्तरोत्तर बढ़ाई जाय। निस्संदेह आपका आदर्श बहुत ऊँचा है, पर यही आदर्श सदा से न केवल उच्चाकांक्षी भारतीयों का रहा है, किन्तु उन उदारमना न्यायप्रिय अँग्रेजों का भी रहा है जो भूतकाल में भारतीयों के भाग्य के मालिक थे। जान ब्राइट, ब्रैडला, मेकाले, और फास्ट जैसे मानव-हितैषी, उदाराशय पुरुषों के सामने भी यही आदर्श था। लार्ड बेंटिंक, और लार्ड रिपन जैसे महानुभावों ने भी इसी आदर्श के अनुसरण का यत्न किया। और राजा राममोहन राय, जस्टिस रानाडे और दादा भाई नौरोजी जैसे राष्ट्र के पथ-प्रदर्शक भी इसी आदर्श का पुकार-पुकारकर समर्थन करते गये। मिस्टर गोखले भी इसी आदर्श के उत्साही समर्थकों में थे और जब तक वह शुभ दिन न आये, जब कि सरकार इस आदर्श का अनुसरण करे, प्रत्येक उच्चाकांक्षी देश-हितैषी का प्रथम कर्तव्य यही होगा कि वह इसी आदर्श को कार्य-रूप देने के यत्न में संलग्न रहे।

मिस्टर गोखले को जो लोकप्रियता और देश के नेताओं में जो प्रमुख स्थान प्राप्त था, उस पर प्रत्येक व्यक्ति को गर्व हो सकता है। आपने अपने को राष्ट्र पर उत्सर्ग कर दिया था। आपके हृदय में कोई लौकिक कामना थी तो यही कि भारत भूमण्डल के उन्नत राष्ट्रों में सम्मान का पद प्राप्त करे और ग़रीबी के गहरे गढ़े से निकलकर समृद्धि के सतखंडे पर अपनी पताका फहराये। आप दिन-रात देश की भलाई के उपाय सोचने में ही डूबे रहते थे। निस्संदेह आप देश के नाम पर बिक गये थे। और यद्यपि सरकार ने आपकी निःस्वार्थ देशभक्ति, लोकहित की सच्ची कामना तथा न्यायशीलता का आदर किया और आपको सितारेहिन्द की उच्च उपाधि से सम्मानित किया, पर आप इतने विनम्र और शालीन थे कि इस आदर-सम्मान को अपनी योग्यता से अधिक

मानते थे। देशहित-साधन की धुन में आपको मान-प्रतिष्ठा की तनिक भी इच्छा न थी।

मिस्टर दादाभाई नौरोजी में आपको भरपूर श्रद्धा थी। बम्बई में उनकी सालगिरह का जलसा हुआ तो उनके गुणगान में आपने बड़ी ओजस्विनी वक्तृता की, जिसके अन्तिम शब्द सोने के पानी से लिखे जाने योग्य हैं—

'मेरे नौजवान दोस्तो! सोचो कि मिस्टर दादाभाई का जीवन कैसा उज्ज्वल आदर्श है जो ईश्वर ने तुम्हारे लिए प्रस्तुत किया है। जिस उत्साह से तुमने उनको श्रद्धांजलि अर्पित की उसे देखकर हृदय को आनन्द होता है। पर हम इस जलसे को कदापि सफल न समझेंगे, अगर तुम्हारा उभरा हुआ उत्साह इतने ही से संतुष्ट हो जाय। तुम्हारा फर्ज़ है कि उस जीवन से शिक्षा ग्रहण करो और अपना भीतर-बाहर उसी नमूने पर सँवारने की कोशिश करो जिसमें किसी दिन यह गुण तुम्हारी प्रकृति के भी अङ्ग बन जायँ। सज्जनो, सब कुछ जानने और देखनेवाला परमात्मा प्रत्येक देश में समय-समय पर ऐसी आत्माएँ भेजा करता है जो मार्गभ्रष्टों को रास्ता दिखायें और जिनके पद-चिन्ह का अनुसरण कर भूले-भटके बटोही अपने गन्तव्य स्थान को पहुँचे। निस्संदेह, दादाभाई नौरोजी इस अभागे देश की आँखों के तारे हैं। मुझसे कोई पूछे तो मैं जरूर कहूँगा कि आप जैसा ऊँचे विचार का देशभक्त दुनिया के किसी देश में मुश्किल से पैदा हुआ होगा। हममें से संभवतः कोई भी ऐसा न होगा जो उस ऊँचाई तक पहुँच सके। ऐसे बहुत कम होंगे, जिन्होंने चित्त की इतनी दृढ़ता और ऐसा ऊँचा दिमाग़ पाया हो। पर हम सभी आपके समान जाति-धर्म का भेदभाव न रखकर अपने देश को प्यार कर सकते हैं। हम सभी उस उच्च लक्ष्य के लिए जिस पर आपने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है, कुछ न कुछ यत्न कर सकते हैं। आपके जीवन की सबसे बड़ी शिक्षा यही है कि देश और

जाति की सेवा करो। अगर हमारे नौजवान भाई इस शिक्षा से थोड़ा बहुत भी लाभ उठायेंगे, तो देश का भविष्य निस्सन्देह उज्ज्वल होगा, चाहे कभी-कभी समाँ अँधेरी ही क्यों न हो जाय।'

मिस्टर गोखले को दिल से लगी थी कि श्री दादाभाई नौरोजी अपनी सारी ज़िन्दगी की कोशिश से जिस कल्याणकारी कार्य का आरम्भ-मात्र कर पाये, वह देशवासियों की लापरवाही और कमहिम्मती से नष्ट न हो जाय। इसका सर्वोत्तम उपाय आपको यही दिखाई दिया कि उनके पदचिह्नों का अनुसरण किया जाय। यद्यपि इतने दिनों के अनुभव के बाद भारतवासियों को अब मालूम हो गया है कि अपने कष्टों की कहानी इंगलैण्डवालों को सुनाना बेकार है, और हमारा उद्धार होगा तो अपनी हिम्मत और पुरुषार्थ से ही होगा, पर आपका विश्वास था कि भारत के विषय में ब्रिटिश जनता की वर्तमान उपेक्षा का कारण केवल उसका अज्ञान है। उसकी सहज न्यायप्रियता अब भी लुप्त नहीं हुई है। आपको पूरा भरोसा था कि भारत की स्थिति से परिचित हो जाने के बाद वह अवश्य उसकी ओर ध्यान देगी। हमारे लोक-नायकों का सदा यही विचार रहा है। अतः समय-समय पर कांग्रेस के प्रतिनिधियों को विलायत भेजने के यत्न होते रहे हैं। पहली बार जो प्रतिनिधि गये थे, उनमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, और स्वर्गीय मिस्टर मनमोहन घोष जैसे धुरन्धर वक्ता थे। उनका यत्न बहुत कुछ फल-जनक सिद्ध हुआ। १९०६ ई० में फिर यही आंदोलन उठा और निश्चय हुआ कि हर सूबे से एक-एक प्रतिनिधि इंगलैण्ड भेजा जाय। इस गुरुतर कार्य के लिए सारे बम्बई प्रांत की अनुरोध भरी दृष्टि मिस्टर गोखले की ओर उठी और उनके कठिन कार्य-साधन में आनन्द पानेवाले स्वभाव ने बड़े उत्साह से इस भार को अपने ऊपर लिया जिसे उठाने के लिए आपसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति मिल नहीं सकता था।

इङ्गलैण्ड में विचारवान् व्यक्तियों ने आपका बड़े प्रेम और

उत्साह से स्वागत किया। पर चूँकि इसी बीच वङ्ग-भङ्ग और स्वदेशी आंदोलन की चर्चा भी उठ गई थी इसलिए भारतवासियों को आशंका थी कि मैंचेस्टर और लंकाशायरवाले, जो स्वदेशी आंदोलन चे कारण रुष्ट हो रहे हैं, आपकी उपेक्षा न करें। सोचा जाता था कि उन स्थानों में जाते हुए आप ख़ुद भी हिचकेंगे। पर आपकी गहरी निगाह ने भाँप लिया कि उनसे दूर रहना और भी विलगाव का कारण होगा। जब दवा की आशा उनसे की जाती है तो दर्द भी उन्हीं से कहना चाहिए। अतः आपने उन नगरों में जाकर ऐसे नपे, प्रभावशाली और ओजस्वी भाषण किये कि सुननेवालों के विचार पलट दिये। स्वदेशी आंदोलन का आपने ज़ोरों से समर्थन किया जो आपके नैतिक बल का प्रमाण है। आपने फरमाया कि वङ्गाल में ब्रिटिश माल के तिरस्कार का कारण यह नहीं है कि वङ्गालियों के विचार विप्लववादी हो गये हैं। इतिहास और अनुभव इसके गवाह हैं कि जैसी राजभक्त और आज्ञापालक जाति भारतीयों की है, वैसी दुनिया की और कोई ज़ाति नहीं हो सकती। जो जाति डेढ़ सौ साल से तनिक भी गरदन न उठाये उसका यकायक बिगड़ उठना अनहोनी बात है, जब तक कि उसके दिल को कोई असह्य चोट न पहुँचे। इसमें सन्देह नहीं कि लार्ड कर्ज़न की काररवाइयाँ, और ख़ास कर उनके आख़िरी काम ने बंगालियों को बहुत दुःखी और क्षुब्ध कर दिया है। फिर भी अभी तक कोई ऐसी घटना नहीं हुई है जो किसी सभ्य सरकार के लिए हस्तक्षेप या विरोध का समुचित कारण हो सके। शान्ति और व्यवस्था में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा है। इस स्थिति में दुनिया की कोई और सभ्य जाति ईश्वर जाने क्या क्या उपद्रव मचाती। कोई निष्पक्ष व्यक्ति वङ्गालवालों के धैर्य और संयम की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। यह सोचना निरा भ्रम है कि स्वदेशी आंदोलन पर इसलिए ज़ोर दिया जा रहा है कि अंग्रेज़ों के प्रति उनके मन में शत्रुता का भाव है।

बहुत-से ऐंग्लो इंडियन पत्र लोगों को बहका रहे हैं। इस ग़लत-फ़हमी में फँसे हुए लोगों को मालूम हो कि बंगालवालों ने यह तरीका महज़ इसलिए इख़्तियार किया है कि अपनी चीख़-पुकार और फरियाद ब्रिटिश जनता के कानों तक पहुँचायें और उनकी सहानुभूति प्राप्त करें। जो इस तरीके को बुरा समझता हो वह बतलाये कि हिन्दुस्तानियों के हाथों में और दूसरा कौन-सा उपाय है? क्या भारत-सचिव के दरवाज़े पर जाकर 'दाता की जय' मनाने से काम चलेगा? या पार्लमेंट में एक-दो प्रश्न कर लेने से उद्देश्य सिद्ध हो जायगा? अब अंग्रेज़ों की न्यायशीलता के लिए यही उचित है कि वह भारत-सचिव से आग्रह-अनुरोध करें। ग़रीब हिन्दुस्तान पर झल्लाना, जो स्वयं ही दलित, अपमानित हो रहा है; मर्दानगी की बात नहीं है।

प्रत्येक अवसर पर आपने ऐसे ही ज़ोरदार भाषण किये। कटु, अप्रिय सत्य कहने में आपको कभी आगा-पीछा नहीं होता था। और इंगलैण्डवासियों की उदारता को भी धन्य है कि अपनी ही जाति के अन्याय-अत्याचार की कहानी सुनने के लिए हज़ारों की संख्या में जमा होते थे। यद्यपि इन नग्न सत्यों से उनके राष्ट्रीय अभिमान को चोट लगती थी, फिर भी विभिन्न सभा-समितियों से आपके पास भारत के विषय में कुछ कहने के लिए इतने नियन्त्रण आते थे कि कठोर परिश्रम के आदी होने पर भी सबको स्वीकार न कर सकते थे। भाषण के बीच में श्रोतृसमूह ऐसे उत्साह से साधुवाद देता था और आदि से अन्त तक ऐसी सहानुभूति का परिचय देता था कि आपको स्वीकार करना पड़ता था कि अंग्रेज़ों की न्यायवृत्ति अभी तक कुण्ठित नहीं हुई है। डेढ़ महीने के अल्प-काल में आपने सारे इंगलैण्ड का दौरा किया और कितने ही भाषण किये, पर जिस जाति ने मुद्दतों से हिन्दु-स्तान को अपनी मिलकियत समझ रखा हो, उस पर ऐसे भाषणों का क्या टिकाऊ असर पड़ सकता था। सम्मानित और सदाशय

अंग्रेज़ सज्जनों ने सहानुभूति प्रकट की और बस। शासन-यंत्र इसी पुराने ढर्रे पर चलता रहा।

मातृभूमि ! वह लोग अन्याय करते हैं जो कहते हैं कि हिन्दू जाति मृत, निष्प्राण हो गई है। जब तक दादाभाई, रानाडे और गोखले जैसे बच्चे तेरी गोद में खेलेंगे, हिन्दू जाति कभी मुर्दा नहीं कही जा सकती। कौन कह सकता है कि अगर इन महा-पुरुषों का जन्म किसी स्वाधीन देश में हुआ होता तो वह ग्लॅडस्टन, बिस्मार्क या रूज़वेल्ट न होते !

गेरीबाल्डी

जोज़फ़ गेरीबाल्डी जिसने इटली को गुलामी के गढ़े से निकाला, इतिहास के उन इने-गिने महापुरुषों में है जो अपनी निस्स्वार्थ और साहस-भरी देशभक्ति के कारण अखिल विश्व के उपकारक माने गये हैं। वह स्वाधीनता का सच्चा पुजारी था, और जब तक जीता रहा, केवल अपने देश और जाति को ही उन्नति के शिखर पर पहुँचाने के यत्न में नहीं लगा रहा, अन्य दलित, पीड़ित जातियों को भी अवनति के गर्त से निकालने की कोशिश करता रहा। गेरीबाल्डी का-सा उदार और मानव सहानुभूति से भरा हुआ हृदय रखनेवाले व्यक्ति इतिहास में बिरले ही दिखाई देते हैं। वह झोपड़े में पैदा हुआ, अपनी सच्ची देशभक्ति और देशसेवा के उत्साह की बदौलत सारे राष्ट्र का प्यारा बना और आज सारा सभ्य-संसार एक स्वर से उसका गुणगान कर रहा है। इसमें संदेह नहीं कि उसमें कुछ कमजोरियाँ थीं—ऐसा कौन-सा मनुष्य है जो मानव-स्वभाव की दोष-त्रुटियों से सर्वथा मुक्त हो? पर इन कमजोरियों से उसके यश और कीर्ति में तनिक भी कमी नहीं होने पाई। उसके नेकनीयती और निस्स्वार्थता पर कभी किसी को संदेह करने का साहस नहीं हुआ। वह चाहता तो उस लोकप्रियता की बदौलत जो उसे प्राप्त थी, धन-वैभव की चोटी पर ही न पहुँच जाता, राजदण्ड और राजमुकुट भी धारण कर लेता। पर उसका अन्तःकरण ऐसी स्वार्थमय कामनाओं से निर्लिप्त था। उसका यत्न सफल हो गया। इटली ने पराधीनता के जुए को उतार फेंका, तो वह चुपचाप अपने घर लौट आया और

दुनिया के झगड़ों से अलग होकर शेष जीवन खेती-बारी में काट दिया। निस्संदेह, गेरीवाल्डी का-सा शौर्य और साहस रखनेवाले और भी लोग दुनिया में हो गये हैं, पर जिस दुर्लभ गुण ने इटालियन जाति को सदा के लिए उसका ऋणी बना दिया है वह है उसकी बेदाग़ नेकनीयती और निर्मल, निष्काम देशभक्ति।

गेरीवाल्डी का जन्म २२ जुलाई, १८७० ई० में नाइस नामक नगर में हुआ। उसका बाप एक छोटे दरजे का नाविक था, जो दिनों के फेर के कारण ग़रीबी की हालत में दिन काट रहा था। हाँ, उसकी मा बड़ी साध्वी सुशीला स्त्री थी। ग़रीबी वह बुरी बला है कि मनुष्य के बहुत-से गुणों पर परदा डाल देती है। पर इस अर्थ-कष्ट में भी यह महिला बड़े सन्तोष और शान्ति के साथ अपना निर्वाह करती थी। अच्छी माताओं की कोख से सदा ही सपूत जन्मे हैं। दुनिया के महान् पुरुषों में से अधिकतर ऐसे हैं जिनके हृदयों में उनकी माताओं के गुणों ने ही सद्गुणों, सदुद्देश्यों और ऊँचे आदर्शों के बीज बोये। गेरीवाल्डी भी अपनी मा के सद्-गुणों से बहुत प्रभावित हुआ। वह ख़ुद लिखता है—

> 'वह विशुद्ध प्रेम जो मुझे अपने देश के साथ है और जिसने मुझे अपने अभागे देश-वासियों के दुःख-सुख का साथी बना दिया है, उसका बीज उस समय उगा था जब मैं अपनी ग़रीब मा को ग़रीबों के साथ हमदर्दी दिखाते और दुर्दशा-ग्रस्तों पर करुणा करते हुए देखता था। मैं असत् की पूजा करनेवाला अंध-विश्वासी नहीं हूँ, पर मैं स्वीकार करता हूँ कि कठिन से कठिन विपत्ति के समय जब समुद्र मेरे जहाज़ को जलसमाधि देने पर तुला होता और उसे काग़ज़ की नाव की तरह उछालता होता था या जब हवा की सन-सनाहट की तरह बंदूकों की गोलियाँ मेरे कान के पास से सनसनाती हुई निकल जाती थीं और मेरे सिर पर गोले ओले की तरह बरसते होते थे, मैं अपनी स्नेहमयी

माता को अपने बेटे के लिए भगवान से विनती करते हुए देखता। मेरा वह साहस और वीरता जिस पर बहुतों को अचरज होता है, इस अटल विश्वास का ही फल है कि जब एक पुण्यशीला देवी-स्वरूपा महिला मेरे लिए ईश्वर से प्रार्थना कर रही है तब तक मुझ पर कोई विपत्ति नहीं आ सकती।'

बचपन से ही गेरीबाल्डी की सहज निर्भीकता, स्वातंत्र्य-प्रियता, और दीन-दुखियों के साथ सहानुभूति का परिचय मिलने लगा। आठ साल का भी न होने पाया था कि एक स्त्री को डूबते देखकर मर्दानगी के साथ नदी में कूद पड़ा और उसे काल के गाल से निकाल लाया। इसके कुछ साल बाद उसके कुछ मित्र नौका-विहार कर रहे थे कि भयानक तूफ़ान आ गया और नाव के जल-निमग्न हो जाने की आशंका होने लगी। गेरीबाल्डी किनारे से यह अवस्था देख रहा था, तुरत हिम्मत बाँधकर पानी में कूद पड़ा, और नौका को सकुशल किनारे लाया। उसके साहस और मानव-सहानुभूति की सैकड़ों कथाएँ लोगों की ज़बान पर हैं। यही गुण थे जिन्होंने बाद में उसे राष्ट्र का कर्णधार और उसके गर्व की वस्तु बना दिया।

मा-बाप यद्यपि निर्धन थे, पर बेटे की बुद्धि की तीक्ष्णता को देखकर उसे अच्छी शिक्षा दिलवाई। उनकी इच्छा थी कि वह वकालत का पेशा करे। पर एक ऐसे नवयुवक को जिस पर सैनिक और नाविक जीवन की धुन सवार थी, मुक़दमों के सबूत ढूँढ़ने और पुरानी, दीमकों की चाटी हुई नज़ीरें तलाश करने में तनिक भी दिलचस्पी नहीं हो सकती थी। इसलिए उसने सार्डीनिया की जलसेना में नौकरी कर ली और कई साल तक उस चित्त की दृढ़ता और कष्टसहिष्णुता का अभ्यास करता रहा, जिसने आगे चलकर उसकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति में बड़ी सहायता की।

इटली की दशा उन दिनों बहुत बिगड़ रही थी। उत्तरी भाग आस्ट्रिया के अत्याचारों से चीख़-चिल्ला रहा। दक्षिण में नेपुल्स के उत्पीड़नों की धूम थी, मध्य देश में पोप ने अंधेर मचा रखा था, और पच्छिम में पेडमांट के ज़ोर-ज़ुल्म का चक्र चल रहा था। पर चारों ओर राष्ट्रीय जागृति के चिह्न प्रकट हो रहे थे और युवकों के हृदयों में अपने देश को विदेशियों के उत्पीड़नों से मुक्त करने, इटली को एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में परिणत करने और दुनिया के सम्मानित राष्ट्रों की श्रेणी में स्थान दिलाने की उमंगें उठ रही थीं। यह उत्साह केवल शिक्षित-वर्ग तक सीमित न था, साधारण जनता में भी आज़ादी का वह जोश पैदा हो चला था, जिसने फ्रांस के प्रभुत्व का ताना-बाना बिखेर दिया। देश-प्रेमियों ने 'यंग इटाली' (युवा इटली) नाम की एक संस्था स्थापित कर रखी थी, जिसका प्राण मेज़िनी जैसा सच्चा देशभक्त था। अतः उद्देश्य सिद्धि के अनेक साधनों और उपायों पर विचार करने के बाद १८३२ ई० में यह निश्चय किया गया कि देश में राज्यों के विरुद्ध विप्लव कर दिया जाय और उसका आरम्भ पेडमांट से हो। गेरीबाल्डी को यह समाचार सुनकर कब मन पर अधिकार रह सकता था। तुरत नौकरी से इस्तीफ़ा देकर मेज़िनी की मदद के लिए जा पहुँचा। पर संभवतः मसाला पक्का न था। भण्डा फूट गया और दल छिन्न-भिन्न हो गया। मेज़िनी तो गिरफ़्तार हो गया, पर गेरीबाल्डी किसी तरह भाग निकला, पर उसकी बेचैन तबियत को चैन कहाँ! सदा छिपे-छिपे पत्रों और संदेशवाहकों के द्वारा आग भड़काता रहता था। दो बरस बाद फिर एक दल तैयार किया। पर अबकी ख़ुद गिरफ़्तार हो गया। सामयिक शासक ने प्राण-दण्ड का अधिकारी ठहराया। अपने सत्सङ्कल्पों के लिए शहीद होने का समय आ ही पहुँचा था कि प्राण-रक्षा का उपाय निकल आया। भागकर फ्रांस पहुँचा और ट्यूनिस होता हुआ दक्षिणी अमरीका में दाख़िल हो गया।

वहाँ उन दिनों कई जातियाँ स्वाधीनता के लिए अपने ऊपर शासन करनेवाली शक्तियों से लड़ने को तैयार थीं। गेरीबाल्डी ने वारी-वारी से उनकी सहायता की। छोटी-छोटी सेनाएँ लेकर वरसों तक जंगलों-पहाड़ों में लड़ता-भिड़ता रहा। उसकी पति-परायणा पत्नी अनीता इस सारे क्लेश-कष्ट में उसकी साथी थी। इस समय लड़ने-भिड़ने में वह इतना व्यस्त रहता था कि चार वरस तक एक दिन भी आराम से विस्तर पर लेटना न नसीव हुआ। जव नींद दवाती तो घोड़े की पीठ पर सिर नीचा कर लेता। अधिक अवकाश हुआ तो वहीं ज़मीन पर लम्बा हो जाता। इससे भी सराहनीय अनीता का धैर्य और दृढ़ता है जो पति की खातिर यह सारी विपत्तियाँ और क्लेश झेलती और शिकायत में मुँह से एक शव्द न निकालती।

यद्यपि 'यंग इटाली' (इटालिअन युवक दल) और उसके अधिकतर सदस्य जिनमें मेज़िनी भी शामिल था, निर्वासन के कष्ट भोग रहे थे, पर उनके विचार गुप्त परचों आदि के द्वारा जन साधारण के हृदयों में स्वाधीनता का प्रेम जगाते जाते थे। कई बार साधारण रूप में प्रकट होने के वाद अन्त में १८४८ ई० में यह जोश भड़क उठा। कई नगरों में जनता ने आज़ादी के झण्डे ऊँचे कर दिये। मिलान और जिनोवा में आस्ट्रिया की सेना ने हार भी खाई। पेडमांट के शासक शाह अलवर्ट ने पहले तो आस्ट्रिया के विरुद्ध किये गये इस विप्लव को वड़ी कड़ाई से दवा देने की कोशिश की; पर जव उसमें सफल न हुआ और जनता का जोश वढ़ता ही गया, तो इस डर से कि कहीं उसकी प्रजा भी उपद्रव पर उद्यत न हो जाय, छिपे-छिपे वाग़ियों की मदद करने लगा। पोप ने भी इसी में भलाई देखी कि प्रजा का विरोध न किया जाय। इस विप्लव के दिल वढ़ानेवाले समाचार समुद्र को पार करके अमरीका पहुँचे तो उस परदेश में पड़े हुए देशभक्त के हृदय में फिर देशसेवा की उमङ्ग लहरें लेने लगी। उसके साथ

उस समय ८३ आदमियों से अधिक न थे, इसी छोटे-से दल को लेकर वह स्वदेश के स्वाधीनता-संग्राम में जूझने को रवाना हो गया। प्रस्थान के समय उन ८३ आदमियों में से भी वहुतों की हिम्मत छूट गई और वे सोचने लगे कि कहाँ हम और कहाँ आस्ट्रिया और अन्य यूरोपीय राज्यों की संयुक्त शक्ति। अन्त में केवल ५६ आदमी वच रहे। पर गेरीवाल्डी का हौसला दवना जानता ही न था। उसका दृष्ट संकल्प तनिक भी विचलित न हुआ। उन्हीं ५६ आदमियों और थोड़ी सी वन्दूकों के साथ वह एक जहाज़ पर इटली के लिए रवाना हो गया। यहाँ जिस उत्साह और उल्लास से उसका स्वागत किया गया, वह इस बात का प्रमाण था कि जाति में नव-जीवन का सञ्चार और सच्चे स्वाधीनता-प्रेम का प्रसार हो गया है।

गेरीवाल्डी ने पहले पोप के दरवार में नौकरी की दरख़्वास्त दी। उसने पोप के वारे में जो अफ़वाहें सुनी थीं उनसे उसको विश्वास था कि वह अवश्य मेरी सेवा स्वीकार करेगा। और मुझे आस्ट्रियावालों का सिर कुचलने का अच्छा मौक़ा हाथ आयेगा। पर पोप के सदुद्देश्यों की पोल बहुत जल्दी खुल गई। उसने गेरीवाल्डी को नौकर रखने से ही इनकार नहीं किया, कुछ ऐसी काररवाइयाँ भी कीं जिनसे प्रकट हो गया कि वह भी 'चोर-चोर मौसेरे भाई ही हैं।' यहाँ से निराश होकर गेरीवाल्डी ने पेडमांट के बादशाह के सामने अपनी तलवार पेश की। यह वही हज़रत थे जिन्होंने पहले गेरीवाल्डी को वगावत की साज़िश करने के अपराध में देशनिकाले का दण्ड दिया था। पर अब जनता के भाव का विरोध करने में कुशल न देख खुले तौर पर आस्ट्रिया का विरोध आरम्भ कर दिया था। पर सम्भवतः यह अधिकतर प्रजा को धोखे में डालने के लिए ही था। गेरीवाल्डी को यहाँ से भी कोरा जवाव मिला। इसी बीच जन-विप्लव से भयभीत होकर पोप ने गेरुवा वाना उतार फेंका और रोम से भाग निकला।

पोप के पलायन की ख़बर ज्यों ही मशहूर हुई कि निर्वासित देशभक्त अपने-अपने गुप्त स्थानों से निकलकर रोम की ओर दौड़े। और वहाँ एक पार्लमेण्ट स्थापित हुई जो चन्दरोज़ा होने के कारण 'अस्थायी सरकार' कहलाती है। यह दिन इटली के इतिहास में बड़ा शुभ था। जनता ख़ुशी से फूली न समाती थी। इस सरकार ने गेरीबाल्डी की सेवा सहर्ष स्वीकार की और वह स्वयंसेवकों का एक दल लेकर सीधा उत्तर की ओर चला। यहाँ अपने अवसरों पर उसने साहस और वीरता के जो काम किये, उन पर वीर से वीर सैनिक को गर्व हो सकता है। सतत सफलता से उसका यश और सम्मान दिन-दिन बढ़ता गया। उसकी आदत शत्रु की शक्ति का अन्दाज़ा करने की न थी, और अपने साथियों की संख्या का भी वह कुछ ख़्याल न करता। उसकी राजनीति यह थी कि जहाँ दुश्मन को सामने देखा और टूट पड़ा। इसमें वह तनिक भी आगा-पीछा न करता। उसके आक्रमण में कुछ ऐसा बल होता था कि प्रायः सभी अवसरों पर उसकी यह युक्ति सफल हो जाती थी। अपने से दसगुनी सेना को, जो हरबे-हथियार से लैस होती थी, कितनी ही बार उसने अपने नौसिखिये, अनुभवहीन रंगरूटों से हरा दिया। इसका कारण यह था कि उसके दल का एक-एक आदमी राष्ट्रीयता के नशे में चूर होता था।

मिलान की जनता ने आस्ट्रिया का ज़ोरों से विरोध किया था, इसलिए वह ख़ास तौर से आस्ट्रिया के कोप का भाजन बना हुआ था। गेरीबाल्डी उसकी रक्षा के यत्न में लगा हुआ था कि रोम से डरावनी ख़बरें आईं। मेज़िनी भी स्विट्ज़रलैंड से स्वदेश को लौट रहा था। मिलान में दोनों देशभक्तों का 'भरत-मिलाप' हुआ और दोनों साथ-साथ रोम की ओर चले कि वहाँ पहुँचकर पार्लमेंट का विधान बनायें और देश को अव्यवस्था और अराजकता की मुसीबतों से बचायें। रोम पर उस समय सब ओर से

विपत्तियाँ टूट रही थीं। राष्ट्रीय सरकार के पाँव अभी जमने न पाये थे कि एक ओर से नेपुल्स के बादशाह और दूसरी ओर से बोनापार्ट की सेनाएँ उसका गला घोंटने के लिए आ पहुँचीं। इसके सिवा पोप के जासूसों और पादरियों ने जनसाधारण के अंध-विश्वास का लाभ उठाकर राष्ट्रीय सरकार की ओर से उन्हें भड़काना शुरू कर दिया। गेरीबाल्डी इन सारी विरोधी शक्तियों का सामना करने के लिए तैयार था। पहले नेपुल्स के बादशाह से उसकी मुठ-भेड़ हुई। उसके साथ १५ हज़ार पक्के, अनेक लड़ाइयाँ देखे हुए सिपाही थे। पर इस बड़ी सेना को उसने पलक मारते छिन्न-भिन्न कर दिया और बहुत दूर तक पीछा करता चला गया। उसका विचार था कि नेपुल्स पर चढ़ जाय, पर फ्रांसीसियों के आ पहुँचने की खबर सुनकर लौट पड़ा। फ्रांसीसी सिपाही जो अफ्रीका के मैदानों से ताज़ा-ताज़ा लौटे थे, बड़ी दृढ़ता से लड़े और क़रीब था कि शहर में घुस पड़ें कि इतने में गेरीबाल्डी अपने एक हजार स्वयंसेवकों के साथ आ पहुँचा और घमासान युद्ध के बाद ८ हजार अनुभवी फ्रांसीसी सैनिकों के पाँव उखाड़ दिये। फ्रांसीसी जेनरल ऐसा घबराया कि संधि की प्रार्थना की। गेरीबाल्डी इसके विरुद्ध था, क्योंकि वह जानता था कि शत्रु केवल कुमक की प्रतीक्षा करने के लिए मुहलत चाहता है। पर मेज़िनी ने सुलह कर लेना ही अधिक उचित समझा। आख़िर इस अदूरदर्शिता का परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसियों ने धोखा देकर रोम पर कब्जा कर लिया और गेरीबाल्डी को बड़ी परीशानी के साथ वहाँ से भागना पड़ा।

इस प्रकार पराजित होकर गेरीबाल्डी अपने पक्के साथियों के साथ, जो डेढ़ हज़ार के लगभग थे, ईश्वर का नाम ले चल खड़ा हुआ। उसकी पतिप्राणा पत्नी भी उसके साथ थी। बहुत दिनों तक वह देश में मारा-मारा फिरता रहा। साथी दिन-दिन घटते जाते थे, न रक्षा का कोई सामान था, न हरबे-हथियार का

कोई प्रबन्ध। शत्रु उसकी एक-एक हरकत की जाँच-पड़ताल किया करते थे और उसे इतनी मुहलत न देते थे कि जनता को भड़का-कर कुछ करा सके। आज यहाँ है, कल वहाँ है। नित्य ही शत्रु के धावे होते थे। गेरीवाल्डी के इस जीवन का वृत्तान्त बहुत ही मनोरंजक कहानी है। सच है, स्वदेश की सेवा सहज काम नहीं है। उसके लिए ऊँचा हौसला, फ़ौलाद की दृढ़ता, दिन-रात मरने-पिसने का अभ्यास और हर समय जान हथेली पर लिये रहने की आवश्यकता है। जब तक यह गुण अपने स्वभाव में समा न जायँ, स्वदेश-सेवा का व्रत लेना ज़बानी ढकोसला है। अन्त में एक मौक़े पर आस्ट्रिया की सेना ने उसे घेर लिया कि कहीं से निकल भागने का रास्ता न दिखाई देता था। उसके साथियों ने जान बचाने का कोई उपाय न देख हिम्मत हार दी, और लगभग ९०० आदमियों ने हथियार रखकर शत्रु से प्राण-भिक्षा माँगी। पर आस्ट्रिया की सेना का हृदय इतना कलुषित हो रहा था कि उसे इन अभागों की दशा पर तनिक भी दया न आई, और उस रिया-यत के बदले जो युद्ध के नियमों के अनुसार आत्म-समर्पण करने-वालों पर की जानी चाहिए, उसने इन लोगों को क़ैद करके निर्वा-सित कर दिया। कितनों ही के कोड़े भी लगवाये। गेरीवाल्डी के साथ कुल ३०० आदमी थे। परीक्षा का समय बुरा होता है, पर उसकी दृढ़ता में तनिक भी अन्तर न पड़ा और न तनिक भी डरा-घबराया। उस छोटी-सी सेना के साथ शत्रु के घेरे से लड़ता-भिड़ता निकल पड़ा और उनकी पाँतों को चीरता-फाड़ता समुद्र के किनारे आ पहुँचा। यहाँ १५ नावें तैयार थीं, उनमें बैठकर वेनिस की ओर चल पड़ा। थोड़ी दूर गया था कि आस्ट्रिया के जहाज पीछा करते हुए दिखाई दिये और देखते-देखते उसके साथ की १३ नावें उनके हाथ में पड़ गईं। केवल दो जिनमें गेरीवाल्डी, उसकी पत्नी और कुछ साथी सवार थे, एक टापू के किनारे आ लगीं। यहाँ वह घटना घटित हुई जो गेरीवाल्डी के जीवन का सबसे

अधिक करुण अध्याय है। बेचारी अनीता गर्भवती थी और दिन-रात दौड़ते-भागते फिरने के कष्टों से घबड़ा गई थी। थकावट और रोग की प्रबलता ने उसे चलने-फिरने में भी असमर्थ बना दिया था। गेरीबाल्डी ने कोई उपाय न देख साथियों को छोड़ दिया और पत्नी को गोद में लेकर चला। तीन दिन के बाद उसने एक किसान का दरवाज़ा खटखटाया और पानी माँगा। अनीता को बड़े ज़ोर की प्यास लगी हुई थी। पर वह मौत की प्यास थी जो 'शरबते मर्ग' के चखने ही से बुझी। गेरीबाल्डी उसके मुँह में पानी की बूँदें टपका रहा था कि उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। गेरीबाल्डी के हृदय पर यह घाव आजीवन बना रहा, यहाँ तक कि अन्तिम क्षण में भी अपनी प्यारी पत्नी ही का नाम उसकी ज़बान पर था। बहुत रोया, पीटा। पर वहाँ रोने को भी अवकाश न था। दुश्मन क़रीब आ पहुँचा था। लाचार वहाँ से भागकर वेनिस पहुँचा और वहाँ से जिनेवा की ओर चला। पर कहीं अभीष्ट-सिद्धि का कोई उपाय न दिखाई दिया। जिनेवा से ट्यूनिस होता हुआ जिब्राल्टर पहुँचा। पर यहाँ भी उसे चैन न मिल सका। सरकार उसके नाम से घबा-ड़ाती थी। यहाँ तक कि जिब्राल्टर में भी, जो अँग्रेज़ी अमलदारी है, उसे रहने की इजाज़त न मिली। लाचार वहाँ से लिवरपूल (इंगलैंड) आया और वहाँ से संयुक्त राष्ट्र अमरीका की राह ली। यहाँ कोई और उद्यम न पाकर उसने एक ब्रिटिश साबुन के कार-खाने में नौकरी कर ली। आश्चर्य है कि ऐसे ऊँचे विचार और आकांक्षा रखनेवाले पुरुष की ऐसे छोटे धंधे की ओर क्योंकर प्रवृत्ति हुई। सम्भवतः जीविका का आवश्यकता ने विवश कर रखा होगा क्योंकि उसकी आर्थिक अवस्था बहुत ही हीन हो रही थी। कुछ दिन यहाँ बितने के बाद उसने एक जहाज़ की नौकरी कर ली और अरसे तक चीन, आस्ट्रेलिया आदि में नाविक कार्य करता रहा। कई साल तक इस प्रकार भटकने के बाद एक बार न्यूकैसल आया। यहाँ जनता ने बड़े हर्षोल्लास से उसका स्वागत किया और एक

तलवार और एक दूरबीन उसे भेंट की। उस अवसर पर किये गये भाषण के उत्तर में गेरीबाल्डी ने कहा—

'अगर तुम्हारे देश ग्रेट ब्रिटेन को कभी किसी सहायक की आवश्यकता हो तो ऐसा कौन अभागा इटालियन है जो मेरे साथ उसकी मदद को तैयार न हो जाय। तुम्हारे देश ने आस्ट्रियावालों को वह चाबुक लगाया है जिसे वह कभी भूल न सकेंगे। अगर इङ्गलैण्ड को कभी किसी जायज़ मामले में मेरे शस्त्रों की आवश्यकता पड़े तो मैं उस बहूमूल्य तलवार को जो तुमने मुझे उपहार-रूप में दिया है, बड़े गर्व के साथ म्यान से बाहर करूँगा।

पेडमांट के राज्य में अब शान्ति स्थापित हो चुकी थी, इसलिए गेरीबाल्डी ने कचरेरा नामक टापू ख़रीद लिया और उसे बसाकर खेती का धन्धा करने लगा। खेती की पैदावार को आस-पास के बाजारों में ले जाकर बेचा करता था। वह तो यहाँ बैठा हुआ खेती-बारी में उत्साह से लग रहा था, उधर इटली की अवस्था में बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहा था। यहाँ तक कि आस्ट्रिया के अत्याचारों से ऊबकर पेडमांट की सरकार ने फ्रांस की सहायता से उसके साथ युद्ध की घोषणा कर दी। अब गेरीबाल्डी की आवश्यकता अनुभव की गई, और प्रधान मन्त्री केयूर ने अप्रैल १८३९ ई० में उसे देश की सहायता करने को निमन्त्रित किया। गेरीबाल्डी तुरत अपने शान्तिकुटीर से निकल पड़ा। छोटे-बड़े सब के हृदयों में उसके लिए इतना आदर था, और वह अपनी नीयत का इतना सच्चा और भला था कि दूसरे सैनिक अधिकारी जो इस विप्लव से स्वार्थ-साधन करने के फेर में थे, उससे बुरा मानने लगे। परन्तु नवयुवक नरेश विक्टर इमानुएल ने जो गेरीबाल्डी के गुण-स्वभाव से भली-भाँति परिचित था, उससे कहा—'आप जहाँ चाहें जायँ, जो चाहें करें, मुझे केवल इस बात का दुःख

है कि मैं मैदान में आपकी बग़ल में रहकर अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता।'

इस प्रकार बादशाह से यथामति कार्य करने का अधिकार पाकर गेरीबाल्डी ने आस्ट्रिया के विरुद्ध उन छोटी-छोटी लड़ाइयों का सिलसिला शुरू किया जो इतिहास में अपना जोड़ नहीं रखतीं। उसके साथ १७ हज़ार आदमी थे और ये सब नवयुवक स्वयं-सेवक थे जिन्होंने देशहित पर अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देने का सङ्कल्प कर लिया था। उनकी सहायता से उसने कितनी ही लड़ाइयाँ मारीं, कोमो और बरगाओ छीन लिया, और अन्त में उत्तर इटली से शत्रु को निकाल बाहर किया। उधर पेडमांट और फ्रांस की संयुक्त सेना ने भी आस्ट्रियावालों को कई मारकों में हराया और लुम्बार्डी छीन लिया। पर जीतों का यह सिलसिला अधिक दिन न चलने पाया। सम्राट् नेपोलियन ने पेडमांट का बल अधिक बढ़ते देख लड़ाई बन्द कर देने का हुक्म दिया। आस्ट्रिया ने भी मौक़ा ग़नीमत जाना, और कुछ देर दम ले लेना मुनासिब समझा। गेरीबाल्डी शुरू से कहता आता था कि राष्ट्र बाहरी शक्तियों की सहायता के कभी स्वाधीनता नहीं प्राप्त कर सकता। वह फ्रांस की सहायता स्वीकार करने के एक दम विरुद्ध था, पर पेडमांट-सरकार ने उसकी सलाह के ख़िलाफ़ काम किया था, और अब उसे अपनी अदूरदर्शिता का फल भुगतना पड़ा। उस समय थोड़े ही दिनों तक लड़ाई और जारी रहती तो इटली से आस्ट्रिया की सत्ता की जड़ उखड़ जाती, पर लड़ाई के बन्द हो जाने से उसे फिर शक्ति-संचय का अवसर मिल गया। अन्त में गेरीबाल्डी ने नाराज़ होकर इस्तीफ़ा दे दिया, पर शाह इमानुएल ने ऐसे नाजुक वक्त में उसका इस्तीफ़ा मंजूर करना मुनासिब न समझा। अतः गेरीबाल्डी ने अपने ही स्वयंसेवकों से स्वतंत्र रूप में, युद्ध जारी रखने का जिम्मा लिया, पर उस पर चौतरफ़ा से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में ऐसे दबाव पड़ने लगे

कि अन्त में हताश होकर उसने फिर इस्तीफ़ा दे दिया, और अबकी बार वह स्वीकार कर लिया गया, यद्यपि राष्ट्र ने इसका प्रबल विरोध किया।

पर स्वाधीनता के पुजारी और स्वदेश के सच्चे प्रेमी से कब चुप बैठा जाता था। लेखों और भाषणों से वह जनता को स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए उभारता रहता था। गुप्त रूप से वितरित पर्चों और पुस्तकों के द्वारा उसके राष्ट्रीय भाव उत्तेजित किये जाते, बराबर घोषणाएँ प्रकाशित की जाती थीं, जिनमें उद्देश्य-सिद्धि के साधनों और उपायों पर ज़ोरदार शब्दों में बहस की जाती थी। गेरीबाल्डी का मत था कि जब तक देश में १० लाख बंदूकें और १० लाख निशानेबाज़ न हो जायेंगे, राष्ट्र स्वाधीन न हो सकेगा। इन घोषणाओं का प्रभाव अन्त में यह हुआ कि अमरीकावालों ने सहायता-रूप में चौबीस हज़ार बंदूकें एक जहाज में लदवाकर गेरीबाल्डी के पास भेजीं। कई हज़ार नौजवान अपने को राष्ट्र पर कुरबान कर देने को तैयार हो गये और गेरीबाल्डी २ हज़ार जवानों को लेकर सिसली की ओर चला। यहाँ नेपुल्स के बादशाह ने प्रजा को सता-सताकर विप्लव के लिए तैयार कर रखा था। इन उत्पीड़ितों ने ज्यों ही सुना कि गेरीबाल्डी उनकी सहायता को आ रहा है, अपनी-अपनी तैयारियों में लग गये और बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया। मसाला तैयार था ही, गेरीबाल्डी ने आते ही आते पुरमो पर ऐसा ज़ोर का धावा किया कि शाही फ़ौज क़िलाबन्द हो गई और उसने प्राण-भिक्षा माँगी। जनता को उस पर ऐसा विश्वास था कि उसने उसे अपना उद्धारक मानकर सिसली के अधिनायक की उपाधि दी। शाह इमानुएल पहले ही से इस युद्ध के विरुद्ध थे, इस डर से कि नेपुल्स-नरेश आस्ट्रिया से मेल करके कहीं हमारे मुल्क पर हमला न कर बैठे, इस विजय का समाचार मिला तो गेरीबाल्डी से अनुरोध किया कि अब आप नेपुल्स सरकार को और ज्यादा हैरान

न करें जिसमें वह संयुक्त इटली का अंग बन सके। पर गेरीबाल्डी ने अपनी राय न बदली। पहले तो उसने सिसली से शाही फ़ौज को निकाला फिर इटली के दक्षिणी समुद्र तट पर उतर पड़ा। इसकी ख़बर पाते ही चारों ओर से जनता उसके दल में सम्मिलित होने के लिए टूटने लगी। मानो वह इसी की प्रतीक्षा में थी। अधिकतर स्थानों में नई अस्थायी सरकारें स्थापित हो गई और ३१ अगस्त को जनता ने 'उभय सिसली के अधिनायक' (डिक्टेटर) की उपाधि जो नेपुल्स नरेश को प्राप्त थी, गेरीबाल्डी को प्रदान कर दी। फ्रांसिस के होश उड़ गये। गेरीबाल्डी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। पर तीन लड़ाइयों में से एक का भी परिणाम उसके लिए अच्छा न हुआ। ८ सितम्बर को गेरीबाल्डी नेपुल्स में दाख़िल हुआ। इसके दूसरे दिन विक्टर इमानुएल वहाँ का बादशाह घोषित किया गया और सारे राज्य की प्रजा की सहमति से सिसली और नेपुल्स दोनों पेडमांट के राज्य में सम्मिलित कर दिये गये।

राष्ट्र की इस महत्त्वपूर्ण सेवा के बाद जो उसके जीवन का आधा कार्य कहा जा सकता है, गेरीबाल्डी ने अपनी सेना को तोड़ दिया और अपने जज़ीरे को लौट आया। अब केवल रोम और वेनिस वह स्थान थे, जो अभी तक पोप और आस्ट्रिया के पंजे में फँसे हुए थे। दो साल तक वह अपने शान्तिकुटीर में बैठा हुआ इन उत्पीड़ित लोगों में स्वाधीनता के भाव भरता रहा। अंत में उसकी कोशिशों का जादू चल गया और वेनिसवाले भी स्वाधीनता-प्राप्ति के प्रयास के लिए तैयार हो गये। अब क्या देर थी। गेरीबाल्डी तुरत चुने हुए वीरों की छोटी-सी सेना लेकर चल खड़ा हुआ। पर विक्टर इमानुएल को उसकी यह धृष्टता बुरी लगी। प्रधान मन्त्री केयूर के मर जाने से उसके मन्त्रियों में कोई वीर साहसी पुरुष न रह गया था। सब के सब डर गये कि कहीं आस्ट्रियावाले हमारे पीछे न पड़ जायँ। इसलिए

गेरीबाल्डी को रोकने के लिए सेना भेजी। वह अपने देश-वासियों से लड़ना न चाहता था। जहाँ तक हो सका बचता रहा, पर अन्त में घिर गया और युद्ध अनिवार्य हो गया। सम्भव था कि वह यहाँ से भी साफ़ निकल जाता, पर कई ऐसे गहरे घाव लगे कि लाचार हो घर लौट आया और कई महीने तक खाट सेता रहा।

सन् १८६४ ई० में गेरीबाल्डी इंगलैण्ड की सैर को गया। यहाँ जिस धूमधाम से उसका स्वागत किया गया, जिस ठाट से उसकी सवारी निकली, सम्राटों के आगमन के अवसरों पर भी वह मुश्किल से दिखाई दे सकती है। जो भीड़ गली-कूचों और ख़ास-ख़ास जगहों पर उसके दर्शन के लिए इकट्ठी हुई, वैसा जन-समुद्र कभी देखने में नहीं आया। यहाँ वह १० दिन तक रहा। सैकड़ों संस्थाओं ने मानपत्र दिये। कितने ही नगरों ने तलवारें और उपाधियाँ भेंट कीं। २२ अप्रैल को वह फिर अपने जज़ीरे को लौट आया।

इसी बीच आस्ट्रिया और प्रुशिया में युद्ध छिड़ गया। गेरी-बाल्डी ने शत्रु को उधर फँसा देखकर अपनी उद्देश्य-सिद्धि के उपाय सोच लिये। ११ जून १८६६ ई० को वह अचानक जिनेवा में आ पहुँचा और आस्ट्रिया के विरुद्ध विप्लव खड़ा कर दिया। पर पहली ही लड़ाई में उसकी रान में ऐसा गहरा घाव लगा कि उसके योद्धाओं को पीछे हटना पड़ा। घाव भर जाने के बाद उसने कोशिश की कि फ्रांस के राज्य में चला जाय और उधर से शत्रु पर हमला करे। पर आस्ट्रिया की सेना ने यहाँ उसे फिर रोका और बड़ा घमासान युद्ध हुआ जिसमें विपक्ष ने करारी हार खाई। चूँकि आस्ट्रिया के लिए अकेले प्रुसिया से ही निब-टना आसान न था, इसलिए दक्षिण के युद्ध की अपेक्षा उत्तर की ओर ध्यान देना उसे अधिक आवश्यक जान पड़ा। अतः सुलह की बातचीत होने लगी और युद्ध की शुभ समाप्ति हुई। सुदीर्घ

काल के बाद वेनिसवालों की कामना पूर्ण हुई और वह भी इटली का एक प्रान्त बन गया।

१८६७ ई० में गेरीबाल्डी ने फिर रोम पर हमला करने की तैयारियाँ शुरू कीं। इटली सरकार ने उसके रास्ते में बहुत रुकावटें डालीं और उसे क़ैद भी कर दिया, पर वह इन सब विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ अन्त में फ्लोरेंस में आ पहुँचा। इटली में अब पोप ही का राज्य ऐसा खण्ड रह गया था जहाँ राष्ट्रीय शासन न हो, और गेरीबाल्डी की आत्मा को तब तक शान्ति नहीं मिल सकती थी, जब तक कि वह इटली की एक-एक अङ्गुल ज़मीन को विदेशी शासन से मुक्त न कर ले। यद्यपि उसने दो बार रोम को पोप के पञ्जे से निकालने का महाप्रयत्न किया, पर दोनों बार विफल रहा। ज्यों ही उसके फ्लोरेंस में आ पहुँचने की ख़बर मशहूर हुई, जनता में जोश फैल गया और कुछ ही दिनों में स्वयंसेवकों की ख़ासी सेना उसके साथ हो गई। पोप की सेना भी तैयार थी। युद्ध आरम्भ हो गया और यद्यपि पहली जीत गेरीबाल्डी के हाथ रही, पर दूसरी लड़ाई में फ्रांस और पोप की ख़ातिर तोप-बन्दूक का सामना करता है। और उसे प्रुसिया के पञ्जे में पड़ने से बचा लेता है।

फ्रांस और प्रुसिया में सन्धि हो जाने के बाद गेरीबाल्डी अपने घर लौट आया और चूँकि जाति को अब उसकी सामरिक योग्यता की आवश्यकता न थी, इसलिए अपने कुटुम्ब के साथ शान्ति से बुढ़ापे के दिन बिताने लगा। पर इस अवस्था में भी देश की ओर से उदासीन न रहता था, किन्तु उसके शिल्प और उद्योग की उन्नति के उपाय सोचने में लगा रहता था। १८७५ ई० में वह बाल-बच्चों के साथ रोम की यात्रा को रवाना हुआ। यहाँ जिस ठाट से उसका स्वागत हुआ वह दुनिया के इतिहास में बेजोड़ घटना है। जब वह यहाँ से वापस चला तो २० हज़ार

आदमी पैदल, राष्ट्रीय गीत गाते-बजाते उसे विदा करने आये। उसके सारे जीवन के आत्म-त्यागों के बदले में यही एक दृश्य पर्याप्त था।

गेरीबाल्डी का शेष जीवन कपरेरा में व्यतीत हुआ। यहाँ वह अपने बाल-बच्चों के साथ शान्ति से जीवन-यापन करता रहा। उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई थीं, स्वास्थ्य और बल भी विदा हो चुका था; परन्तु श्रम से कुछ ऐसा सहज प्रेम था कि अन्तिम क्षण तक कुछ न कुछ करता रहा। और जब सब शक्तियाँ जवाब दे चुकीं, तो बैठा उपन्यास लिखवाया करता। अन्त में १८८४ ई० में थोड़े दिन बीमार रहकर इस नश्वर जगत् से विदा हो गया। और एक ऐसे पुरुष की स्मृति छोड़ गया जो स्वदेश का सच्चा भक्त और राष्ट्र का ऐसा सेवक था, जिसने अपने अस्तित्व को उसके अस्तित्व में निमज्जित कर दिया था, और जो न केवल इटली का, किन्तु अखिल मानवजाति का मित्र और हितचिन्तक था। आज इसका नाम इटालियन जाति के एक-एक बच्चे की ज़बान पर है। उसके साहस, उदारता, ऊँचे हौसले और सौजन्य की सैकड़ों कथाएँ साधारण चर्चा का विषय हैं। शायद ही कोई शहर हो जिसने उसकी प्रतिमा स्थापित कर अपनी कृतज्ञता का परिचय न दिया हो। पर उसकी कार्यावली का सबसे बड़ा स्मारक वह विस्तृत राज्य है जो आल्प्स पर्वत से लेकर सिसली तक फैला हुआ है और वह राष्ट्र है जो आज इटालियन के नाम से प्रसिद्ध है।

मौ० वहीदुद्दीन 'सलीम'

वहीदुद्दीन नाम, 'सलीम' उपनाम, पिता का नाम हाजी फ़रीदुद्दीन साहब, पानीपत ज़िला करनाल (पंजाब) के प्रतिष्ठित सैयद कुल के थे। उनके दादा मुलतान से स्थानान्तर कर पहले पाक पहन पहुँचे जहाँ हाजी फ़रीदुद्दीन साहब का जन्म हुआ। फिर पानीपत आये और इसी क़सबे को वासस्थान बनाया। हाजी साहब पानीपत के सुप्रसिद्ध महात्मा हज़रत बूअली शाह क़लन्दर के मज़ार के मुतवल्ली (प्रबंधक) थे। बहुत पूजा-पाठ करनेवाले और यंत्र-मंत्र में प्रसिद्ध थे। बिहार के स्थावान क़सबे के पूजनीय सन्त मौलाना सैयद ग़ौस अलीशाह लम्बे पर्यटन के बाद जब पानीपत पधारे तो हाजी साहब ने आग्रह करके उनको क़लन्दर साहब के हाते में ठहराया और १८ बरस तक उनकी सेवा की। मौलाना हाजी साहब पर बहुत कृपा रखते थे। आप और आपके मेहमानों के लिए दोनों वक्त हाजी साहब के घर से खाना आता था। हाजी साहब के यहाँ साधारणतः लड़कियाँ होती थीं, पुत्र-सुख से वंचित थे। हज़रत की दुआ से उनको दो पुत्र प्राप्त हुए। बड़े बेटे का नाम वहीदुद्दीन और छोटे का हमीदुद्दीन रखा गया। यही बड़े बेटे हमारी इस चर्चा के विषय मौलाना सलीम साहब हैं। क़सबे की एक शरीफ़ उस्तानी ने जो आपा शम्सुन्निसा के नाम से प्रसिद्ध थी, मौलाना को कुरान शरीफ़ कंठ कराया। इसके बाद खुद मौलाना हज़रत ग़ौस अली ने उनको सरकारी स्कूल में भरती कराया। हाजी साहब

की परलोक-यात्रा के बाद उनकी पढ़ाई-लिखाई की निगरानी खुद हज़रत ही ने की। मौलाना को लड़कपन से ही फ़ारसी का शौक था। अपनी निज की कोशिश से फ़ारसी की किताबें पढ़ने और टीकाओं की सहायता से उनको समझने का यत्न करते रहे।

जब गुलिस्ताँ का तीसरा अध्याय पढ़ते थे और उनकी अवस्था कुल १४ साल की थी, हज़रत मौलाना की स्तुति में फारसी में एक कसीदा लिखा जिसमें १०१ शेर हैं और सुप्रसिद्ध कवि उर्फ़ी के एक क़सीदे के जवाब में लिखा गया है। मौलाना ने हज़रत के सामने आम मजसे में ऊँचे स्वर से यह क़सीदा पढ़-कर सुनाया जिसे सुनकर श्रोतृमण्डली विस्मय-विमुग्ध हो गई कि इस उम्र और इस योग्यता का बच्चा ऐसे क्लिष्ट भावों को क्योंकर बाँध सका। वस्तुतः यह हज़रत मौलाना का ही प्रसाद था और 'तज़किरए-ग़ौसिया' में यह क़सीदा उनकी करामात के दृष्टान्त-रूप में छापा गया है। इस रचना के पुरस्कार-रूप में हज़रत ने एक जयपुरी अशरफ़ी और एक ज़री के काम की बनारसी चादर मौलाना को प्रदान की थी।*

मिडिल तक पढ़ने के बाद मौलाना सलीम पानीपत से लाहौर पहुँचे, जहाँ मौलाना फ़ैज़ुलहसन साहब सहारनपुरी से अरबी पढ़ी जो उस समय ओरियंटल कालिज के अरबी के प्रोफ़ेसर थे। तफ़सीर (कुरान की व्याख्या) भी उन्हीं से पढ़ी। फ़िक़ाह (इसलामी धर्मशास्त्र) और तर्क तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन मौलाना अब्दुल अहद टौंकी से किया। यह सारी पढ़ाई महज़ शौक़ की चीज और स्वतंत्र कार्य था। एंट्रेंस और मुन्शी फ़ाज़िल के सिवा विश्वविद्यालय की और कोई परीक्षा पास नहीं की। हाँ विश्वविद्यालय के अध्यापकों से पाश्चात्य दर्शन, विज्ञान, रसायन-शास्त्र और गणित का अध्ययन किया, पर इस सिलसिले में भी

* तज़किरए-ग़ौसिया।

कोई परीक्षा नहीं दी। क़ानून पढ़कर वकालत करने का विचार था, और क़ानून के दरजे में भरती भी हो गये थे, पर जीविका की आवश्यकता से लाचार होकर यह विचार त्याग देना पड़ा और भावलपुर रियासत के शिक्षा-विभाग में नौकरी कर ली। एजर्टन कालिज भावलपुर में ६ साल काम करने के बाद रामपुर रियासत के हाई स्कूल के हेड मौलवी के पद पर बुला लिये गये। पर यह सिलसिला छः महीने से अधिक न चल सका। क्योंकि जेनरल अज़ीमुद्दीन जो मौलाना को मानते थे, अचानक क़तल कर दिये गये। इधर मौलाना भी ऐंठन के रोग से पीड़ित होकर ६ साल तक खाट पर पड़े रहे। इसके बाद आपने जालंधर के एक मशहूर हकीम से (जो हकीम महमूद खाँ के सहपाठी थे) यूनानी तिब्बत का अध्ययन किया और इसी तौर पर डाक्टरी का भी ज्ञान प्राप्त कर पानीपत में चिकित्सा-कार्य आरम्भ किया जो कई साल तक सफलता-पूर्वक चलता रहा।

इसी समय मौलाना हाजी आपको अपने साथ अलीगढ़ ले गये और सर सैयद अहमद खाँ से मिलाया। सर सैयद की पारखी निगाह ने इस दुर्लभ रत्न को पहचान लिया और आग्रह कर के अपने पास रहने पर राज़ी कर और फिर मरते दम तक उन्हें अपने पास से हटने न दिया। मौलाना कभी किसी बात पर नाराज़ होकर अलीगढ़ से चले जाते तो सर सैयद अपने खास दोस्त मौलवी जैतुलआबिदीन को उनके पीछे-पीछे स्टेशन तक भेजते और मौलाना सलीम खींच-खाँचकर सर सैयद के दरबार में वापस लाये जाते। सर सैयद का नियम था कि जो शास्त्रीय या धर्म-सम्बन्धी विषय विचारणीय होते, उन पर मौलाना सलीम के साथ बहस-मुबाहसा करते थे। दोनों दो पक्ष ले लेते और विचारणीय प्रश्न के एक-एक अंग को लेकर उस पर खूब बहसमुबाहसा और खण्डन-मण्डन करते। अन्त में किसी सिद्धान्त पर पहुँचकर विवाद समाप्त कर दिया जाता। इस सहायता के

अतिरिक्त मौलाना सलीम सर सैयद को ग्रंथ-रचना में भी मदद देते थे और उनके लेखों का मसाला इक्ट्ठा करते थे। अलीगढ़ गज़ट और 'तहज़ीबुल अख़लाक़' में लेख भी लिखते थे।

सर सैयद अहमद के देहान्त के बाद मौलाना सलीम ने हाजी इसमाईल ख़ाँ साहब रईस बतावली के सहयोग से 'मआरिफ़' नामक मासिक निकाला जिसका बड़ा आदर हुआ। इसी समय मौलाना के छोटे भाई हमीदुद्दीन साहब ने 'हाली प्रेस' के नाम से पानीपत में एक छापाखाना खोला, जो कई साल तक चलता रहा। अलीगढ़ कालिज के विद्यार्थियों की मशहूर हड़ताल समाप्त होने के काद स्वर्गवासी नवाब मुहसिनुलमुल्क ने मौलाना को अलीगढ़ गज़ट की सम्पादकी के लिए बुलाया। मौलाना कई साल तक इस कार्य को बड़े उत्साह और तत्परता के साथ करते रहे। बाद में बीमारी से लाचार होकर इस्तीफा देकर घर लौट गये, और कई साल तक एकान्तवासी रहे। फिर जब लखनऊ के क्षितिज पर 'मुसलिम गज़ट' का उदय हुआ तो पत्र के संचालकों को आप ही उसका संपादन-भार उठाने के योग्य दिखाई दिये और मौलाना हाली के आग्रह से आपने यह पद स्वीकार कर लिया। यह वह समय था जब आधुनिक राजनीति का आरम्भ हुआ था। मुसालमानों ने राजनीति के मैदान में कुछ बड़े क़दम उठाये थे। मुसलिम लीग के लक्ष्य में आत्मशासन की माँग सम्मिलित हो रही थी। मुसलिम विश्वविद्यालय का विधान बन रहा था और विश्वविद्यालय में सरकार के अधिकार का प्रश्न सारी जाति का ध्यान अपनी ओर खींच रहा था। तराबलस (ट्रिपोली ?) और बावक के युद्धों ने मुसलमानों की अनुभूति को झकझोरकर जगा दिया था और इसके कुछ ही अरसे बाद कानपुर मसजिद की घटना से सारी मुसलिम जाति के भावों में उफान आ गया था। ऐसे समय में मौलाना की शक्तिशालिनी लेखनी ने 'मुसलिम गजट' के पृष्ठों पर जो सपाटे भरे, जो रचना-चमत्कार दिखाया वह

उर्दू-साहित्य की अतिमूल्यवान निधि है। सच यह है कि उस ज़माने में मौलाना की करामाती क़लम ने सारी मुसलिम जाति की मनोवृत्ति में स्पष्ट क्रान्ति उत्पन्न कर दी। 'मुसलिम गज़ट' की धूम उस समय देश के कोने-कोने में मच रही थी। अन्त में अधिकारियों की दमननीति के कारण मौलाना को 'मुस्लिम गजट' का सम्पादन छोड़ना पड़ा, पर शीघ्र ही 'ज़मींदार' के प्रधान सम्पादन के पद पर बुला लिये गये। उस समय 'ज़मींदार' हिन्दुस्तान का सबसे अधिक छपने और बिकनेवाला अख़बार था। अंग्रेज़ी अख़बारों में भी केवल एक 'स्टेट्समैन, ऐसा था जिसका प्रचार 'ज़मींदार' से अधिक था। शेष सब पत्र उसके पीछे थे। मौलाना के ज़माने में 'ज़मींदार' बड़ी शान से निकलता रहा। अन्त में जब उसका छापाख़ाना ज़ब्त हो गया तो मौलाना अपने घर चले गये।

एक अमर साहित्य-सेवा

हैदराबाद में उसमानिया यूनिवर्सिटी स्थापित होने के पहले एक महकमा दारुल तर्जुमा (अनुवाद-विभाग) के नाम से स्थापित किया गया था कि विश्वविद्यालय के लिए पाठ्य-ग्रन्थों का भाषान्तर करे। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दों के भाषान्तर में उपस्थित हुई। अनुवादकों के समूह अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न मत रखते थे। कोई निर्णायक सिद्धान्त दिखाई न देता था। मौलाना सलीम चूँकि इस प्रश्न पर बहुत अरसे से सोच-विचार रहे थे, इसलिए बुलाये गये। हैदराबाद पहुँचकर वह परिभाषा की कमेटियों में सम्मिलित हुए और परिभाषा-निर्माण के विषय पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस पुस्तक में मौलाना ने सिद्ध किया है कि उर्दू आर्यकुल की भाषा है, जो लोग अरबी व्याकरण के अनुसार परिभाषाएँ बनाते हैं, वह प्रस्तुतः इस भाषा की प्रकृति के विरुद्ध कार्य करते हैं। इस बात को आपने बहुत ही सबल युक्ति-प्रमाणों से सिद्ध किया है।

परन्तु पुराणपन्थी अनुवादकों ने इस पर चारों ओर यह बात फैला दी कि मौलाना अरबी के विरोधी और हिन्दी के पक्षपाती हैं। मौलाना ने इस पुस्तक में बताया है कि आर्य-भाषाओं में जो सामान्य नियम हैं वे सब उर्दू में मौजूद हैं। जैसे आर्य-भाषाओं का एक नियम यह है कि दो या दो से अधिक शब्द परस्पर मिल-कर समास या संयुक्त पद बन जाते हैं। इसके उदाहरण में आपने उर्दू के बहुत शब्द उपस्थित किये हैं। फिर बाताया है कि उपसर्ग (prefix) और प्रत्यय (sueffix) के द्वारा शब्द निर्माण भी आर्य-भाषाओं की प्रकृति है। इसके प्रमाण में वह सम्पूर्ण उपसर्ग और प्रत्यय लिख दिये जो हिन्दी, फ़ारसी, तुर्की आदि भाषाओं से उर्दू में लिये गये हैं। यह भी बताया है कि यह दोनों नियम अरबी और दूसरी सामी (सिमेटिक) भाषाओं में नहीं हैं। संयुक्त पद बनाने की जो विधियाँ उर्दू में काम में लाई जाती हैं वे सब बताई हैं, फिर सब प्रकार की परिभाषाएँ बनाने के सिद्धान्त उदाहरण-सहित समझाये हैं। इन सिद्धान्तों को सब अधिकारी विद्वानों ने समीचीन मान लिया है और उक्त अनुवाद-विभाग में प्रायः उन्हीं के अनुसार पारिभाषिक शब्द बनाये जाते हैं।

सच यह है कि यह ग्रंथ लिखकर मौलाना ने उर्दू भाषा का इतना बड़ा उपकार किया है जिसका ऋण आनेवाली शताब्दियों तक चुकाया जायगा। पारिभाषिक शब्द बनाने की पद्धति प्रस्तुत करके उर्दू भाषा के जीवित रहने का साधन जुटा दिया और अब निश्चय ही यह एक ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न भाषा बन जायगी और इसमें जीवित रहने की योग्यता उत्पन्न हो जायगी। मेरा तो विश्वास है कि इस पुस्तक ने मौलाना सलीम के नाम को अमर कर दिया।

उसमानिया यूनिवर्सिटी से सम्बन्ध

उसमानिया यूनिवर्सिटी खुलने पर मौलाना उर्दू-साहित्य के

असिस्टेंट प्रोफ़सर के पद पर नियुक्त हुए। प्रोफ़ेसर का पद इस विश्वविद्यालय में उन्हीं लोगों को दिया जाता है जो यूरोप की डिग्री प्राप्त कर चुके हों, पर चार साल बाद मौलाना अपवाद रूप में प्रोफ़ेसर बना दिये गये। उस समय आपकी अवस्था ५० साल के लगभग थी। तब से अन्त काल तक इसी पद पर रहे।

पाण्डित्य

मौलाना ने अरबी के सम्पूर्ण पाठ्य-विषय और ग्रन्थ पढ़े थे। फ़ारसी के उच्चतम कोटि के ग्रन्थ पढ़े और पढ़ाये थे। नवीन पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान उर्दू अनुवादों के द्वारा और अंग्रेजी जाननेवालों से पुस्तकें पढ़वाकर प्राप्त किया था। जब वह सर सैयद के साहित्यिक सहकारी नियुक्त हुए तो सर सैयद पर उनकी सर्वज्ञता का सिक्का बैठ गया और मरते दम तक उन्हें अपने पास से अलग नहीं किया। यद्यपि उन्होंने उच्च अंग्रेज़ी शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, पर अंग्रेज़ीदाँ से जब किसी विषय पर वार्तालाप होता था तो उनको अकसर लज्जित होना पड़ता था। प्रोफ़ेसरी के ज़माने में भी वह उर्दू-साहित्य की शिक्षा उसी नई प्रणाली से देते थे, जिस पर अंग्रेज़ी साहित्य-शिक्षा अवलंबित है।

कवित्व

मौलाना के आरंभिक जीवन-वृत्तान्त की खोज से मालूम हुआ है कि उन्हें शायरी का शौक १४ बरस की उम्र से था। आरंभ में उर्दू ग़ज़लें उसी ढंग की लिखीं जैसी आमतौर से लिखी जाती हैं। लाहौर में शिक्षा-प्राप्ति के समय उनके विचार बदले और उन्होंने बहुत-सी इसलामी कविताएँ लिखीं। उस ज़माने में फारसी और अरबी भाषाओं में भी बहुत से पद्य लिखे। इन दोनों भाषाओं में भी उनकी रचना प्रौढ़ समझी गई थी। सर सैयद के साहित्यिक सहकारी नियुक्त होने से पहले यह सिलसिला जारी रहा पर इस पद पर पहुँचने के बाद से गद्य-रचना की ओर

अधिक झुकाव हो गया था। फिर भी उर्दू शायरी नहीं छूटी। जब-तब दिल में उमङ्ग उठती और हृदय में भरे हुए भाव पद्य-रूप में बाहर आ जाते। यह रचनाएँ जिन मित्रों के हाथ लगीं वह ले गये। उस समय की कविता अब उपलब्ध नहीं, हाँ 'मआरिफ़' 'ज़मींदार', 'मुसलिमगजट' की फाइलों में उसका कुछ अंश विद्यमान है, पर सब कल्पित नामों से प्रकाशित हैं। कितनी ही रचनाओं के अन्त में 'एक लिबरल मुसलमान' लिखा है। असल बात यह है कि मौलाना सलीम प्रौढ़ और रस-सिद्ध कवि होने पर भी कवि कहलाने में सकुचाते थे और अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराने में सदा आनाकानी किया करते थे। मित्रों के बहुत आग्रह करने पर भी अपना शेष काव्य प्रकाशित कराने को तैयार नहीं हुए। यह अप्रकाशित काव्य हैदराबाद के प्रवास-काल से सम्बन्ध रखता है। उन दिनों वहाँ हर महीने एक मुशायरा हुआ करता था, उसमें बड़े-बड़े प्रौढ़ कवि सम्मिलित होते थे। मित्रों के आग्रह से मौलाना भी उसमें सम्मिलित होने लगे और मित्रों तथा शिष्यों ने उन रचनाओं को मासिकों में छपने के लिए बाहर भेजना शुरू कर दिया। ग़ज़लों के अतिरिक्त अब उनकी स्थायी रचनाएँ भी पत्रों में प्रकाशित होने लगीं। जब मौलाना हाली जीवित थे तो मौलाना ने अकसर अपनी रचनाएँ सुनाईं, पर इसलाह कभी नहीं ली। मौलाना हाली उनके कहने के ढङ्ग और भावों की सुन्दरता पर अकसर घण्टों झूमा करते थे। कहा करते थे कि तुम तो शायरी के छिपे देवता हो।

मौलाना हाली ने अपने 'मुकद्दमए शेरो शायरी' में उर्दू कविता के ख़ासकर ग़ज़लगोई के जो दोष बताये हैं, मौलाना ने उनको त्याग दिया था। ग़ज़ल में जो भाव वह निबद्ध करते थे, वह प्रायः राजनीति के और नीति-सम्बन्धी होते थे, जो उपमा और रूपक के पर्दे में व्यक्त किये जाते थे। समझनेवाले उन इशारों को समझते और मज़े लेते थे। मौलाना के काव्य की एक

बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने मुसलमानों के साम्प्रदायिक भेद को कभी प्रकट नहीं किया। हिन्दू-मुसलमानों को सदा मेल का उपदेश देते रहे। कोई बात जो किसी इसलामी फ़िरके या हिंदुओं के दिल को चोट पहुँचाती हो, कभी उनकी क़लम से नहीं निकली। आपने हिन्दुओं के इतिहास और साहित्य का उसी सम्मान के साथ उल्लेख किया है जिस प्रकार एक सुसंस्कृत कवि को करना चाहिए।

स्थायी रचनाएँ—

मौलाना की स्थायी रचनाएँ दो प्रकार की हैं। एक वह जो हृदय की स्फूर्ति से लिखी हैं, दूसरी वह जो अंग्रेजी कवियों की रचनाओं के आधार पर हैं। पहले प्रकार की रचनाओं में कुछ ऐसी हैं, जो रचनाशैली, नये-पुराने रूपकों की उत्प्रेक्षाओं के सुन्दर प्रयोग और सूक्ष्म गम्भीर भावों के विचार से निस्संदेह 'मास्टर-पीस' कही जाने योग्य हैं। दूसरे प्रकार की रचनाओं में भी उन्होंने कवित्व के प्राण को सुरक्षित रखा है, शाब्दिक अनुवाद का कभी यत्न नहीं किया। अतः ये रचनाएँ भी बिलकुल ऐसी हैं जैसी अपने हृदय की प्रेरणा से लिखी जाती हैं।

मौलाना सलीम सदा इस बात का यत्न करते थे कि शेर में कोई न कोई नवीनता अवश्य हो। कहने का ढंग निराला हो या कोई नई उपमा-उत्प्रेक्षा हो, या कोई नया भाव व्यक्त किया गया हो। कोई भी नवीनता न हो तो वह उस शेर को पसन्द न करते थे। उनके कवित्व में अध्यात्म तत्त्व भी है और दर्शन भी। अध्यात्म का अंश उस सत्संग का सुफल है, जो बचपन में हजरत मौलाना सैयद गौसअली साहब का प्राप्त हुआ था और दर्शन का पुट नव्य ज्ञान का प्रसाद है। उनकी ग़ज़लें प्रायः सभी बढ़िया और सुन्दर हैं। पर वे ग़ज़लें सर्वोत्तम हैं जो हैदराबाद के मुशायरे में पढ़ी गईं। वे प्रायः युवकों को लक्ष्य कर लिखी

गई है; जिनकी प्रगतिशीलता को वह गजलों में भी उकसाते रहते थे।

मौलाना धार्मिक कट्टरपन और पक्षपात से मुक्त थे। उनके विचार अध्यात्म और दर्शन के प्रभाव से स्वतंत्र प्रकार के थे। इस स्वतन्त्रता की झलक उनकी कविता में जगह-जगह दिखाई देती है।

गद्य-रचना

मौलाना ने गद्य लिखना प्रायः उस समय से आरम्भ किया, जब वह सर सैयद के साहित्यिक सहकारी थे। सर सैयद की सङ्गति के प्रभाव से उनके गद्य में यह विशेषता उत्पन्न हो गई कि प्रत्येक भाव को बड़ी स्पष्टता के साथ प्रकट करते हैं। उनके वर्णन में कोई ऐसी ग्रन्थि नहीं हाती जिससे पढ़नेवाले को अर्थ-बोध में कठिनाई पड़े। प्रत्येक विषय को प्रवाह-रूप में लिखते जाते हैं। जब जोश आता है तो उबल पड़ते हैं और ऐसे अवसरों पर उनकी लेखनी से जो वाक्य निकल जाते हैं, वे अति प्रभाव-कारी और हृदयस्पर्शी होते हैं। अकारण अरबी के बड़े-बड़े शब्द लिखकर पाठक पर अपने पाण्डित्य की धाक जमाना नहीं चाहते। कहीं भी शब्दों की काट-छाँट के पीछे नहीं पड़ते, नये-नये पद-विन्यास रचकर पढ़नेवालों पर अपनी विद्वत्ता का सिक्का बैठाना नहीं चाहते; किन्तु प्रत्येक विषय और प्रबन्ध को आदि से अन्त तक सरल और चलते ढंग से लिखना चाहते हैं। यह बात स्वयं विषय के अधिकार मे है कि किसी जगह अपने-आप ओज की धारा बह निकले और उनके विचारों को अपने प्रवाह में बहा ले जाय। इच्छा और प्रयत्न का उसमें कोई दख़ल नहीं होता। सारांश, गद्य-लेखन में वह सर सैयद की शैली के अनुगामी थे। अरबीदानों का समुदाय आजकल जिस प्रकार अरबीनुमा उर्दू लिखता है, उसको वह अपने लिए पसन्द न करते

थे। हालाँकि अगर वह चाहते तो अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य और अरबी भाषा पर असाधारण अधिकार के सहारे क्लिष्ट से क्लिष्ट अरबी-मिश्रित भाषा लिख सकते थे। वस्तुतः उन्हें ऐसी भाषा से बड़ी घबराहट होती थी।

चूँकि इन पंक्तियों के लेखक को मौलाना की सुहबत से लाभ उठाने के बहुत अधिक अवसर मिले हैं, महीनों एक जगह का उठना-बैठना रहा है, इसलिए इस विषय में उनकी रुचि-प्रवृत्ति का विशेष रूप से पता है। अकसर ऐसा संयोग हुआ है कि मौलाना कोई दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्र पढ़ रहे हैं, पढ़ते-पढ़ते किसी जगह रुक गये और अपने खास ढंग में उस रचना या शैली के दोष-गुण की समीक्षा आरम्भ कर दी, या स्वर के उतार-चढ़ाव या लहजे के अदल-बदल से प्रशंसा वा निन्दा व्यंजित करने लगे। मौलाना की संगति में ऐसे अवसर बहुत ही मनोरंजक होते थे।

मौलाना जिस विषय को उठाते अकसर उसके गंभीर ज्ञान का परिचय देते थे। इस प्रकार के निबंधों में से 'तुलसीदास की शायरी' 'अरब की शायरी', औरंगाबाद (दक्षिण) से प्रकाशित होनेवाले त्रैमासिक 'उर्दू' में प्रकाशित होकर लोकप्रिय हो चुके हैं। उनके लेख 'तहज़ीबुल अख़लाक़' 'इंस्टिट्यूट गज़ट' 'मआ-रिफ़' 'अलीगढ़ मन्थली' आदि पत्रों में प्रकाशित हुए हैं। यह सब इकट्ठा कर दिये जायें तो एक अति सुन्दर साहित्यिक संग्रह तैयार हो सकता है।

डा० सर रामकृष्ण भांडारकर

डाक्टर भांडारकर का जीवन चरित उन लोगों के लिए विशेष रूप से शिक्षाप्रद है जिनका सम्बन्ध शिक्षा-विभाग से है। उनके जीवन से हमको सबसे बड़ी शिक्षा यह मिलती है कि दृढ़-संकल्प और धुन का पूरा मनुष्य किसी भी विभाग में क्यों न हो, मान और यश के ऊँचे से ऊँचे सोपान पर चढ़ सकता है। डाक्टर भांडारकर में मानसिक गुणों के साथ अध्यवसाय और श्रम-शीलता का ऐसा संयोग हो गया था जो बहुत कम देखने में आता है, और जो कभी विफल नहीं रह सकता। इतिहास-विषयक खोज और अनुसंधान में कोई भारतीय विद्वान् आपकी बराबरी नहीं कर सकता। संस्कृत-साहित्य और व्याकरण के आप ऐसे प्रकाण्ड पण्डित थे कि यूरोप-अमरीका के बड़े-बड़े भाषाशास्त्री आपके सामने श्रद्धा से सिर झुकाते थे। प्राकृत भाषाओं का अब देश में नाम भी बाक़ी नहीं। पाली, मागधी भाषाओं को समझना तो दूर रहा, इनके अक्षर बाँचनेवाले भी कठिनाई से मिलेंगे। यूरोपीय विद्वानों ने इधर ध्यान न दिया होता तो ये भाषाएँ अबतक नामशेष हो चुकी होतीं। भांडारकर प्राकृत भाषाओं के सर्वमान्य विद्वान् ही न थे, आपने उनमें कितनी ही खोजें भी की थीं। इतिहास, भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व की प्रत्येक शाखा पर डाक्टर भांडारकर को पूरा अधिकार प्राप्त था। जर्मनी के सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय ने आपको 'डाक्टर' की उपाधि से सम्मानित किया था, सरकार ने भी के० सी० एस० आई० और 'सर' की उपाधियाँ प्रदान कर आपके पाण्डित्य का समादर किया।

डाक्टर भांडारकर के पिता एक छोटी तनख्वाह पानेवाले क्लर्क थे और इतनी सामर्थ्य न थी कि अपने लड़कों को अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए किसी शहर में भेज सकें। संयोगवश १८४७ ई० में उनकी बदली रत्नागिरी को हुई। यहाँ एक अंग्रेज़ी स्कूल खुला हुआ था। बालक रामकृष्ण ने इसी स्कूल में अंग्रेज़ी की पढ़ाई आरम्भ की और छः साल में उसे समाप्त कर एलफ़िन्स्टन कालेज बम्बई में भरती होने का हठ किया। बाप ने पहले तो रोकना चाहा, क्योंकि उनकी आमदनी इतनी न थी कि कालिज की पढ़ाई का खर्च उठा सकते, पर लड़के को पढ़ने के लिए बेचैन देखा तो तैयार हो गये। इस समय तक बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना न हुई थी, और उपाधियाँ भी न दी जाती थीं। मिस्टर दादाभाई नौरोजी उस समय उक्त कालिज में प्रोफ़ेसर थे। रामकृष्ण ने अपनी कुशाग्रबुद्धि और परिश्रम से थोड़े ही दिन में विद्यार्थी मण्डल में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया और पढ़ाई समाप्त होने के बाद उसी कालिज में प्रोफ़ेसर हो गये। उसी समय आपको संस्कृत पढ़ने का शौक़ पैदा हुआ और अवकाश का समय उसमें लगाने लगे। इसी बीच बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, और प्रोफ़ेसरों को ताकीद हुई कि वह बी० ए० की सनद हासिल कर लें, नहीं तो नौकरी से अलग कर दिये जायँगे। डाक्टर भांडारकर ने अवधि के अन्दर ही एम० ए० पास कर लिया और हैदराबाद सिंध के हाई स्कूल के हेडमास्टर नियुक्त हुए। साल भर बाद अपने पुराने शिक्षा-स्थान रत्नागिरि स्कूल की हेडमास्टरी पर बदल दिये गये। यहाँ उन्होंने संस्कृत की पहली और दूसरी पोथियाँ लिखीं जो बहुत लोकप्रिय हुईं। अब तक इसके बीसों संस्करण हो चुके हैं। संस्कृत भाषा का अध्ययन इनकी बदौलत पहले की अपेक्षा बहुत सुगम हो गया है। और इनका इतना प्रचार है कि किसी आरम्भिक विद्यार्थी का बस्ता उनसे खाली न दिखाई देगा। दस साल तक आप एल्फ़िन्स्टन और डेकन कालेजों

में असिस्टेण्ट प्रोफ़ेसर की हैसियत से काम करते रहे। १८७९ में डाक्टर कीलहार्न के पद-त्याग के अनन्तर डेकन कालिज में स्थायी रूप से प्रोफ़ेसर हो गये और तब से पेंशन लेने तक उसी पद पर बने रहे।

डाक्टर भांडारकर ने पुरातत्त्व की खोज में विश्वव्यापक ख्याति प्राप्त कर ली है। उन्हें यह शौक क्योंकर पैदा हुआ इसकी कथा बहुत मनोरञ्जक है, और उससे प्रकट होता है कि आप जिस काम को हाथ लगाते थे, उसे अधूरा नहीं छोड़ते थे। १८७० ई० में एक पारसी सज्जन को एक ताम्रपट हाथ लग गया। वह किसी पुराने खण्डहर में गड़ा था और उस पर प्राचीन काल की देव-नागरी लिपि में कुछ खुदा हुआ था। उन्होंने उसे डाक्टर भांडार-कर को दिया कि शायद वह उसके लेख का कुछ मतलब निकाल सकें। डाक्टर साहब उस समय तक प्राचीन लिपियों से अपरि-चित थे; अतः उस लिखावट को न पढ़ सके। पर उसी समय से प्राकृत लिपियों की जानकारी प्राप्त करने की धुन पैदा हो गई। यूरोपीय विद्वानों ने इस क्षेत्र में रास्ता बताने और दिखाने का ही काम नहीं किया है, उन्हें इसका उद्धारक भी समझना चाहिए। डाक्टर भांडारकर ने इस विषय पर अनेक पुस्तकें इकट्ठी कीं और बड़ी तत्परता के साथ अध्ययन में जुट गये। फल यह हुआ कि उन्होंने साल भर के भीतर ही उस अभिलेख का अर्थ ही नहीं लगा लिया, विद्वानों की सभा में उस पर मारके का भाषण भी किया। यही नहीं, इस विषय से उन्हें अनुराग भी उत्पन्न हो गया और खोज-अनुसंधान का कार्य आरम्भ हो गया। प्राचीन इति-हास और पुरातत्त्व पर आपने कितने ही निबन्ध लिखे। प्राकृत भाषाएँ और हमारे प्राचीन इतिहास की समस्याएँ एक दूसरे से इस तरह गुँथी हुई हैं कि एक को जानना और दूसरे से अपरि-चित रहना असम्भव है। अतः डाक्टर भांडारकर ने प्राकृत पर भी भरपूर अधिकार प्राप्त कर लिया। १८७४ ई० में लन्दन में प्राच्य

विद्या-विशारदों का एक सम्मेलन हुआ। आपको भी निमन्त्रण मिला। कुछ घरेलू अड़चनों से आप उसमें सम्मिलित न हो सके, पर एक खोजपूर्ण निबन्ध भेजा जिसके व्यापक अन्वेषण की बड़ी सराहना हुई।

१८७६ ई० में प्रोफ़ेसर विलसन के स्मारक-स्वरूप प्राचीन भाषाओं के प्रचार के लिए एक वार्षिक व्याख्यान-माला की व्यवस्था हुई और डाक्टर भांडारकर इस उच्च पद पर नियुक्त किये गये। कई अंग्रेज विद्वानों के मुक़ाबले उन्हें तरजीह दी गई। भारत में वही इस पद के सबसे बड़े अधिकारी थे। अपनी सहज तत्परता और एकाग्रता के साथ वह इस काम में जुट गये, और संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक भाषाओं पर उन्होंने जो व्याख्यान दिये वह गम्भीर गवेषणा और ऐतिहासिक खोज की दृष्टि से बहुत दिनों तक याद किये जायँगे। उनकी तैयारी में डाक्टर भांडारकर को कठोर श्रम करना पड़ा, पर ऐसी सेवाओं का जो अच्छे से अच्छा पुरस्कार हो सकता है वह हाथ आ गया। विद्वानों ने दिल खोलकर दाद दी और सरकार को भी जल्दी ही अपनी गुणज्ञता का सक्रिय रूप में परिचय देने का अवसर मिल गया। कुछ दिनों से यह विचार हो रहा था कि प्राचीन अप्रकाशित संस्कृत ग्रन्थों की खोज की जाय और उनका संग्रह ऐतिहासिक खोज और समीक्षा के लिए विद्वानों के सामने रखा जाय। क्योंकि ऐतिहासिकों का विचार था कि भारत में प्राचीन काल का इतिहास तैयार करने के मसाले की कमी नहीं है। वह जहाँ-तहाँ पुराने खण्डहरों और निजी पुस्तकालयों में, आपत्काल में आत्मरक्षा के लिए छिपा पड़ा है। उसके अध्ययन से उस समय के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। पर इन साधनों को ढूँढ़ निकलना सहज काम न था। यह गुरु-कार्य डाक्टर भांडारकर को सौंपा गया। और उन्होंने जिस योग्यता के साथ उसका सम्पादन किया उसकी जितनी भी सरा-

हना की जाय, कम होगी। केवल बहुसंख्यक अप्रकाशित ग्रंथ और लेख ही ढूँढ़ नहीं निकाले, उन पर विस्तृत गवेषणापूर्ण रिपोर्ट भी लिखी जो पाँच बड़ी-बड़ी जिल्दों में पूरी हुई हैं। इस क्षेत्र में डाक्टर भांडारकर ने दूसरों के लिए रास्ता बताने और दिखाने का भी काम किया। उनके श्रम से औरों के लिए ऐतिहासिक अन्वेषण का रास्ता साफ़ हो गया। इस काम में उन्हें कैसी-कैसी बाधाओं का सामना करना पड़ा, इसे विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं। इस देश में जिस आदमी के पास भी कोई पुरानी पोथी है, चाहे वह प्रेमकथा ही क्यों न हो, वह उसे सोना-चाँदी बनाने का नुस्खा समझे बैठा है। और उस पर किसी दूसरे की निगाह पड़ जाना भी उसे सहन नहीं। ऐसे लोगों को मनाना डाक्टर भांडारकर का ही काम था। आज यह लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट विद्वानों और इतिहास-प्रेमियों के लिए आश्चर्य का विषय बन रही है। और संभवतः कुछ दिनों तक लोग उसे गम्भीर अध्ययन, शुद्ध वर्गीकरण और ऐतिहासिक अन्वेषण का नमूना समझते रहेंगे।

१८८६ ई० में वायना में प्राच्यविद्या के पण्डितों का सम्मेलन फिर हुआ। अबकी डाक्टर भांडारकर ने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और इस यात्रा में यूरोप की स्थिति को बारीकी के साथ देखा, समझा। इसके एक साल बाद भारत सरकार ने उन्हें सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान कर उनकी विद्वत्ता का समादर किया। अध्ययन और अन्वेषण का यह कार्य जारी रहा। यहाँ तक कि पेंशन का समय आ पहुँचा और डाक्टर भांडारकर ने अवकाश ग्रहण कर पूने को अपना वासस्थान बनाया। पर देश को अभी उनकी सेवाओं की आवश्यकता थी। १९०१ में आप बम्बई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर बनाये गये जो देश पर उनके सतत उपकारों को स्वीकार करना मात्र था।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त डाक्टर भांडारकर ने बाम्बे

गजेटियर के लिए दक्षिण भारत का प्राचीन इतिहास लिखा, जो प्रत्येक दृष्टि से प्रामाणिक इतिहास कहा जा सकता है। वह घटनाओं की विस्तृत तालिका मात्र नहीं है, किन्तु उससे मुसलमानों के हमले के पहले की सामाजिक अवस्था, रीति-नीति, और नियम-व्यवस्था का भी परिचय मिलता है। इस इतिहास का मसाला इधर-उधर बिखरा पड़ा था, उसे इकट्ठा करना, विभिन्न घटनाओं का काल-निर्णय और इस 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा' से सुसम्बद्ध इतिहास का सुविशाल प्रासाद खड़ा कर लेना कठिन कार्य था। सच तो यह है कि डाक्टर भांडारकर सहज विद्यानुरागी थे। ज्ञान से उन्हें उत्कट प्रेम था, एक प्यास थी जो किसी प्रकार न बुझती थी। प्रकृति ने उन्हें खोज और जाँच-पड़ताल की असाधारण योग्यता प्रदान की थी। किसी प्रश्न को हाथ में लेते तो उसकी समीक्षा में तल्लीन हो जाते और उसकी जड़ तक पहुँचने की कोशिश करते। स्थूल ज्ञान से उनके अन्वेषण-प्रिय स्वभाव को सन्तोष न होता था। आधे मन से उन्होंने कोई काम नहीं किया और अपने शिष्यों में भी इस दोष को कभी सहन नहीं किया। शास्त्रार्थ और वाद-विवाद में भी वे बड़े पटु थे। वह साधक-बाधक युक्तियों पर भलीभाँति विचार करके तब कोई सिद्धान्त स्थिर करते थे और फिर समालोचना-समीक्षा के तीखे से तीखे तीर भी उनका बाल-बाँका नहीं कर सकते थे। पण्डिताउ हठ भी उनमें काफी था और जब अड़ जाते तो किसी तरह नहीं टलते थे। वह एक समय में एक ही विषय की ओर झुकते थे और अपने दिमाग़ की सारी ताकत उसी में लगा देते थे। इसलिए जब कभी बहस की ज़रूरत होती तो युक्ति, प्रमाण से पूरी तरह लैस होकर मैदान में उतरते थे।

अपने शिष्यों के साथ डाक्टर भांडारकर का बर्ताव बहुत ही सौजन्य और सहानुभूति का होता था। अच्छे गुरु का कर्तव्य है कि अपने शिष्यों का पथप्रदर्शक, मित्र और मंत्री हो। डाक्टर

भांडारकर ने इस आदर्श को सदा सामने रखा। होनहार लड़कों को अन्य आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता भी दिया करते थे। उनके छात्रों को उनपर पूरा भरोसा रहता था और वह अपनी सब कष्ट-कठिनाइयों में उन्हीं से सलाह लेते और उसपर अमल करते थे। अधिकांश अध्यापकों की तरह वह अपनी ज़िम्मेदारियों की सीमा लेकचर-हाल तक ही नहीं मानते थे। विद्यार्थियों के लिए उनके मकान पर किसी समय रोक-टोक न थी। एक सजीव उदाहरण से ज्ञान और सदाचार शिक्षा के जो उद्देश्य सिद्ध हो सकते हैं वे उपदेशों के बड़े-बड़े पोथों से भी नहीं हो सकते। डाक्टर भांडारकर अपने छात्रों के लिए सहानुभूति, सौजन्य और स्वाधीनता के सजीव दृष्टान्त थे। और चूँकि यह गुण दिखाऊ नहीं किन्तु सहज थे इसलिए विद्यार्थियों के मन पर अंकित हो जाते थे। संस्कृत के अध्यापकों को अकसर यह शिकायत रहती है कि विद्यार्थी और विषयों की तुलना में संस्कृत की ओर कम ध्यान देते हैं, यद्यपि संस्कृत की ललित पदावली और कोमल कल्पनाएँ उनके लिए मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत करती हैं। डाक्टर भांडारकर को कभी यह शिकायत नहीं हुई। उनके व्याख्यान सदा तन्मयता के साथ सुने जाते थे। कुछ तो विषय पर उनका पाण्डित्यपूर्ण अधिकार और कुछ उनका सहज उत्साह तथा विनोदशीलता विद्यार्थियों के ध्यान चुंबक की तरह अपनी ओर खींच लेती थी। आपके विद्यार्थियों में विरले ही ऐसे निकलेंगे जिन्हें संस्कृत भाषा के माधुर्य का चस्का न पड़ गया हो।

लोकव्यवहार में डाक्टर भांडारकर का ढंग स्वाधीनता और खरेपन का था। चापलूसी से उन्होंने कभी अपनी ज़बान को अपवित्र नहीं किया। और संभवतः कभी बाहरी बातों से दबकर अपने सिद्धान्त और व्यवहार में विरोध नहीं होने दिया। उनका जीवन प्रलोभनों से उतना ही निर्लिप्त रहा है, जितना मनुष्य के लिए संभव है। उनकी आत्मा को संभवतः किसी बात से इतनी

चोट नहीं पहुँचती थी जितनी उनके चरित्र पर अनुचित आक्षेप होने से। उन्होंने कभी किसी का अनुग्रह प्राप्त करने की भावना नहीं की। ख्याति और सम्मान की आकांक्षा से सदा दूर रहे। यह वह कमज़ोरियाँ हैं जो कभी-कभी सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को भी पथभ्रष्ट कर देती हैं। पर स्वाधीन और खरे स्वभाव पर इनका जादू नहीं चलता। फिर भी सरकार की कृपादृष्टि उनकी ओर अवश्य रही। वह उच्चतम सम्मान और उपाधियाँ जिनके लिए लोग तरसते रहते हैं, उन्हें बेमाँगे मिल गईं। सी० आई० ई० तो पहले ही हो चुके थे। राज्याभिषेक-उत्सव के अवसर पर (के०) सी० एस० आई० की उपाधि भी प्रदान की गई। सरकार का कृपापात्र बनने के लिए हमें अपने आत्मसम्मान और न्यायप्रियता की हत्या करने की कदापि आवश्यकता नहीं, इसके लिए अगर प्रमाण की अपेक्षा हो तो आपका उदाहरण इस बात का पर्याप्त प्रमाण है। जो लोग ऐसा समझते हैं—और उनकी गिनती अनगिनत है—वे केवल अपनी नासमझी का ही सबूत नहीं देते, सरकार की नीयत, न्याय और बुद्धि को भी बदनाम करते हैं। यद्यपि दुःख के साथ कहना पड़ता है कि सरकार की अनुग्रह-नीति कभी-कभी इस धारणा का पोषण करती हुई दिखाई देती है कि स्वाधीनवृत्ति और न्यायशीलता की उसके लिए कुछ अधिक आवश्यकता नहीं।

डाक्टर भांडारकर में एक बड़ा गुण यह था कि वह-स्वपाण्डित्य के अभिमान और पक्षपात से सर्वदा मुक्त थे। अन्य विद्वानों की तरह उन्होंने अपने समकालीन ऐतिहासिकों और पुरातत्त्वज्ञों के प्रति कभी अनादर का भाव नहीं रखा, किन्तु आरम्भ से ही उनकी यह नीति रही कि दूसरों के मन में भी खोज और अन्वेषण की रुचि उत्पन्न करें, उनका उत्साह बढ़ायें और परामर्श तथा पथ-प्रदर्शन से उनकी सहायता करते रहें। जिसमें उनके बाद इस विषय से अनुराग रखनेवालों का टोटा न पड़े।

सारांश, डाक्टर भांडारकर का व्यक्तित्व भारत के लिए गर्व करने की वस्तु थी। आपने साबित कर दिया कि भारतवासी ज्ञान-विज्ञान के गहन अंगों में भी पाश्चात्य विद्वानों के कंधे से कंधा भिड़ाकर चल सकते हैं। जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड सभी देशों के विद्वान आपके भक्त हैं, और हमारे लिए, जिन्हें उनके देशवासी होने का गर्व है, उनका जीवन एक खुली हुई पुस्तक है जिसमें मोटे अक्षरों में लिखा हुआ है—'अध्यवसाय, व्यवस्था और ऊँचा लक्ष्य सफल जीवन के रहस्य हैं।' जस्टिस चंदावरकर ने जिन्हें आपका शिष्य होने का गौरव प्राप्त है, आपके विषय में लिखा है—

'(डाक्टर) सर भांडारकर ने विविध बाधाओं के रहते हुए भी अपने वर्तावों में कभी लगाव नहीं रखा। आपने सदा सत्य और न्याय का पक्ष लिया, पर सत्य पर मृदु-मधुर शब्दों की चाशनी चटाकर असत्यप्रिय जनों के अनुरंजन का यत्न नहीं किया। आप ब्रह्म-समाज के अनुयायी हैं और जात-पाँत, छूत-छात के विभेद को राष्ट्रीयता का विरोधी और विघातक मानते हैं। भगवद्गीता और उपनिषद् आपके जीवन की पथ-प्रदर्शक ज्योतियाँ हैं। यही आपकी आध्यात्मिक समाधान और चित्त-शुद्धि के साधन हैं। मूर्तिपूजा में आपको विश्वास नहीं। वेदों, उपनिषदों या भगवद्गीता में आपको मूर्तिपूजा का कोई प्रमाण नहीं मिलता। बहुत खोज के बाद आपने यह निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दुओं ने यह प्रथा जैन और बौद्ध सम्प्रदायों से ली है। जैन और बौद्ध यद्यपि सगुण ईश्वर को नहीं मानते, पर विद्वज्जनों और सन्त महात्माओं के देहावसान पर, स्मारक रूप में, उनकी प्रतिमा स्थापित किया करते थे। हिन्दुओं ने उन्हीं से यह रीति ली और उसी ने अब प्रतिमा-पूजन का रूप ग्रहण कर लिया है। फिर भी बहुत से शिक्षित हिन्दू मूर्तिपूजा पर ऐसे लट्टू हैं और उस पर उनका ऐसा दृढ़ विश्वास है मानो

यही हिन्दूधर्म का प्राण हो। सामाजिक विषयों में आप सुधारवादी हैं और व्यवहारतः इसका प्रमाण दे चुके हैं। मई सन् १८९१ ई० में आपने अपनी विधवा लड़की का पुनर्विवाह कर अपने नैतिक साहस का परिचय दिया, जो अपने देश के सुधार-वादियों में एक दुर्लभ गुण है। जिस जाति में ऐसी महान आत्माएँ जन्म लेती रहें उसका भविष्य उज्ज्वल है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता।

बद्रुद्दीन तैयबजी

हिन्दुस्तान में मुसलमानों का प्रवेश दो रास्तों से हुआ। एक तो विलोचिस्तान और सिन्ध की ओर से, दूसरा उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी मार्गों से। सिंध की ओर से जो मुसलमान आये वे अरब जाति के थे और व्यापार करने आये थे। पश्चिमोत्तर दिशा से आनेवाले अफ़ग़ान या पठान जाति के थे और देश-विजय के उत्साह से प्रेरित होकर आये थे। अस्तु, वम्बई प्रान्त में अधिकतर अरब जाति के मुसलमान आवाद हैं जिन्हें अपने व्यापार सम्बन्ध के कारण भारतवासियों के साथ बरावरी का नाता जोड़ने में कोई रुकावट न थी। पठान विजेता थे इसलिए इस देश के निवासियों के साथ अधिक हिल-मिलकर रहना पसन्द न करते थे। बद्रुद्दीन तैयबजी भी एक प्रतिष्ठित अरब कुल के सपूत थे जो बहुत अरसे से वम्बई में आवाद था। उनके पुरखे तिजारत के सिलसिले में हिन्दुस्तान आये थे और बद्रुद्दीन के पिता तैयवजी भाई मियाँ एक सफल व्यापारी थे। यद्यपि वह धर्मनिष्ठ मुसलमान थे और उस जमाने में बोहरों में अंग्रेजी पढ़ना कुफ़्र समझा जाता था, पर ऐसे निरर्थक बन्धनों को मानकर अपने होनहार लड़के को अंग्रेजी शिक्षा से वञ्चित रखना उन्होंने उचित न समझा, जो उनके दूरदर्शी और स्वाधीन-चेता होने का प्रमाण है। बद्रुद्दीन की आरम्भिक फारसी और अरबी की पढ़ाई तो अरबी मदरसे में हुई, पर ज्यों ही इन भाषाओं में कुछ योग्यता हो गई, वह एल० फ़िन्स्टन कालिज में भरती कर दिये गये, और सोलह साल की उम्र में शिक्षा-प्राप्ति के लिए

इङ्गलैण्ड भेज दिये गये, जहाँ से १८६७ ई० में वैरिस्टर होकर हिन्दुस्तान लौटे। यद्यपि उनका स्वास्थ्य खराव था और आँखें भी कमज़ोर हो गई थीं फिर भी उन्होंने पुरुषोचित दृढ़ता के साथ पढ़ाई जारी रखी और अन्त में सफल हुए। हिन्दुस्तान आकर उन्होंने वम्बई हाईकोर्ट में वकालत शुरू की।

वकालत का आरम्भिक काल उस समय भी कड़ी मेहनत का होता था, और खासकर वम्बई में जहाँ वड़े-वड़े नामी वकील पहले ही से अपना सिक्का जमाये हुए थे, अपनी वकालत जमा लेना वद्रुद्दीन के लिए आसान काम न था। पर दस साल के अन्दर ही आप वहाँ के नामी वकीलों की गिनती में आ गये। इसके साथ ही आप देश के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों का अध्ययन करते रहे जो हरएक शिक्षित व्यक्ति का कर्तव्य है जो अपने दिल में देश का कुछ दर्द रखता हो और उसकी भलाई चाहता हो। आप अच्छे वक्ता भी थे। राजनीतिक सभाओं में कई मारके की वक्तृताएँ कीं जिनसे वक्तारूप से भी देश में प्रसिद्ध हो गये। आपको भाषण करने का (पहला) मौक़ा १८७९ ई० में मिला जव मैंचेस्टर से आनेवाले माल की चुङ्गी उठा दी गई। और इस पर रोप-प्रकाश के लिए वम्बई में ज़िम्मेदार व्यक्तियों की ओर से सार्वजनिक सभा की गई। चूँकि वम्बई का वस्त्र-व्यवसाय अभी वच्चा था और मैंचेस्टर व लंकाशायर से आनेवाले माल का मुक़ावला न कर सकता था, इसलिए सरकार ने आरम्भ में इस माल पर चुङ्गी लगा दी थी जिसमें उसका भाव ऊँचा हो जाय और वम्बई के माल की खपत हो। परन्तु विलायत के व्यापारी इस कर का वरावर विरोध किया करते थे। उनके विचार से वम्बई का वस्त्र-व्यसाय अब इतना पुष्ट हो चुका था कि सरकार की ओर से उसे किसी प्रकार की सहायता मिलने की आवश्यकता न थी। इस मौक़े पर वद्रुद्दीन ने ऐसी प्रौढ़ युक्ति-संगत ज्ञानगर्भ वक्तृता की कि आँख रखनेवाले जान

गये कि भारत के राजनीतिक आकाश में एक नये नक्षत्र का उदय हुआ।

वह समय भारत की राजनीति में बहुत दिनों तक याद किया जायगा। लार्ड रिपन उस समय हिन्दुस्तान के वायसराय थे जिनसे अधिक साधु प्रकृति, सहानुभूति-प्रवण और न्यायशील वायसराय यहाँ नहीं आया। उनका सिद्धान्त था कि बड़े-बड़े राज्य अपनी सेना और शस्त्रास्त्र के बल से नहीं जीवित रहते, किन्तु अपनी न्यायशीलता और अपने क़ानूनों के धर्म-संगत होने के बल पर जीते हैं। उस समय तक हिन्दुस्तान में स्थानीय आत्म-शासन की व्यवस्था का अर्थात् म्युनिसिपल और जिला बोर्डों का जन्म न हुआ था। ज़िले का वह प्रवन्ध भी जो अब ज़िला बोर्डों के हाथ में है, ज़िला मजिस्ट्रेट ही किया करता था। अपने अन्य कर्तव्यों के साथ-साथ शहर की रौशनी, सफ़ाई, सड़कों की मरम्मत, शिक्षा आदि का प्रवन्ध का भार भी उसी पर होता था। स्पष्ट है कि वह इन कर्तव्यों का पालन तत्परता के साथ न कर सकता था, क्योंकि उसे और भी अनेक कार्य देखने पड़ते थे। लार्ड रिपन ने लोकल सेल्फ़ गवर्मेंट अर्थात् स्थानीय आत्मशासन का क़ानून जारी किया जिसके अनुसार शहर और ज़िले का प्रबन्ध करनेवाली संस्थाओं की उत्पत्ति हुई। रिपन का उद्देश्य इस कानून से यह था कि भारतवासियों को नगर और ज़िले के प्रबंध का अधिकार प्रदान कर उन्हें इस योग्य बनाया जाय कि प्रान्त और देश के प्रबन्ध का भार भी उठा सकें। अब तो ये स्थानीय वोर्ड एक प्रकार से स्वाधीन हैं। अपनी आमदनी और ख़र्च पर उन्हें पूरा अधिकार है। जनता उनके लिए सदस्य चुनती है। बोर्ड के कर्मचारियों की नियुक्ति सदस्यों के निश्चय से होती है। अध्यक्ष का चुनाव भी वोर्ड ही करती है। हाँ सरकार इन बोर्डों की कार्य-प्रणाली की निगरानी करती है। इस क़ानून के लिए हमें लार्ड रिपन के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। यद्यपि अब भी स्थानीय वोर्ड

कभी-कभी सरकार के कोप-भाजन हो जाते हैं, पर आम तौर से वह उनके कार्यों में दखल नहीं देती।

लार्ड रिपन ही के समय अलबर्ट-बिल भी पास हुआ। इस क़ानून में हिन्दुस्तानी अफ़सरों को अंग्रेज़ों को दण्ड दे सकने का अधिकार दिया गया था। उस समय तक उन्हें यह अधिकार न था। इंगलैंड में एक क़ानून है जिसके अनुसार अंग्रेज़ को अंग्रेज़ 'जूरी' अथवा पंचायत ही सज़ा दे सकती है। हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की अच्छी खासी आबादी है, पर कोई अंग्रेज़ कितना ही बड़ा अपराध क्यों न करे, कोई हिन्दुस्तानी हाकिम उसके अभियोग का विचार नहीं कर सकता। जब कोई अंग्रेज़ किसी अपराध में अभियुक्त होता था, तो अंग्रेज़ों की एक पंचायत उसका मुक़दमा सुनने के लिए नियुक्त की जाती थी और मुक़दमे का एक फ़रीक़ जब हिन्दुस्तानी होता था तो अकसर यह पंचायत अभियुक्त की तरफ़दारी किया करती थी और हिन्दुस्तानियों के साथ अन्याय हो जाता था। इसके सिवा यह एक जातिगत भेदभाव था जिसे भारतीय अपना अपमान समझते थे। वह कहते थे, जब हम एक देश के निवासी और एक राज्य की प्रजा हैं तो सब के लिए एक क़ानून होना चाहिए। उनमें किसी प्रकार की भेद-दृष्टि रखना उचित नहीं। लार्ड रिपन ने इस माँग को न्याय-संगत माना और उनके संकेत से कौंसिल के एक सदस्य सर कोर्टनी अलबर्ट ने यह बिल पेश किया तथा सरकार ने उसे स्वीकार कर लिया। पर अंग्रेज़ों को यह कब सहन हो सकता था कि वह अपने विशेष अधिकारों से वञ्चित हो जायँ। वह अपने को इस देश का शासक समझते थे और भारतवासियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उनका दावा था कि हम सभ्यता में, जाति में, वर्ण (रङ्ग) में भारत में बसनेवालों से ऊँचे हैं और उनके शासक हैं। लार्ड रिपन के विरुद्ध उन्होंने जबर्दस्त आन्दोलन उठाया। अंग्रेज़ी अख़बारों में विरोध के लेख निकलने

लगे। भाषणों में लार्ड रिपन पर खुली चोटें की जाने लगीं। अंग्रेज़ों ने सरकारी जलसों और दावतों में शरीक होना भी बन्द कर दिया। यहाँ तक कि कुछ लोगों ने यह कुचक्र रच डाला कि लार्ड रिपन को पकड़कर जबरदस्ती जहाज़ पर सवार कराके लंदन रवाना कर दिया जाय। अन्त में लार्ड रिपन को विवश हो उस क़ानून में संशोधन करना पड़ा जिससे उसका उद्देश्य ही एक प्रकार से नष्ट हो गया।

मिस्टर बद्रुद्दीन ने उस समय के राजनीतिक कार्यों में क्रियात्मक भाग लिया और कितने ही भाषण किये। शायद ही कोई ऐसी सभा होती थी जिसमें वह न बोलते हों। उनकी वक्तृताएँ सदा साफ़, सुलझी हुई और न्याय का पक्ष लिये हुए होती थीं। सन् १८८१ ई० में बम्बई के तत्कालीन गवर्नर सर जेम्स फ़र्गोनस ने आपको प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा का सदस्य मनोतीत किया और आपकी लोकसेवा का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया।

१८८५ ई० में इण्डियन नैशनल कांग्रेस का जन्म हुआ। यह शिक्षित और मध्यम वर्गवालों की राजनीतिक संस्था थी, जिसका उद्देश्य राजनीतिक अधिकारों की माँग पेश करना था। बद्रुद्दीन इस संस्था के उत्साही कार्यकर्ता थे, और १८८७ ई० में उसके मद्रासवाले अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये। उस अवसर पर उन्होंने जो अभिभाषण पढ़ा, उसमें ऐसी बहुदर्शिता, ओजस्विता और निर्भीक स्पष्टवादिता का परिचय दिया कि सुननेवाले दंग रह गये। मिस्टर बद्रुद्दीन केवल वचनवीर न थे, ठोस कामों में भी वह उसी उत्साह से योग देते थे।

१८७५ ई० में सर सैयद अहमद ने अलीगढ़ कालिज की नींव डाल दी थी; पर मुसलमानों में आम तौर पर उस समय नवीन ज्ञान-विज्ञान की ओर उपेक्षा का भाव था। मिस्टर बद्रुद्दीन ने दिल खोलकर कालिज को आर्थिक सहायता दी, और मुसलमानों में शिक्षा की उन्नति के लिए सब प्रकार यत्न करते

रहे। कांग्रेस में मुसलमानों के सहयोग के सम्बन्ध में सर सैयद अहमद से आपका मतभेद था, सर सैयद का मत था कि मुसलमानों का कांग्रेस में शामिल होना ठीक नहीं है, क्योंकि शिक्षा में वह हिन्दुओं से पीछे हैं और कांग्रेस जिन सिद्धान्तों का प्रचार करती थी, उनके विचार से मुसलमानों को हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक हानि होने का डर था। बद्रुद्दीन तैयबजी सैयद अहमद खाँ के इन सिद्धान्तों और विचारों के कट्टर विरोधी थे। उनका मत था कि भारतवासियों को संयुक्त रूप से सरकार के सामने अपनी माँग पेश करनी चाहिए। सारांश इन मतभेदों के रहते हुए भी मिस्टर बद्रुद्दीन अलीगढ़ कालिज की सदा सहायता करते रहे।

१९०३ ई० में जब अलीगढ़ में मुसलिम शिक्षा-सम्मेलन हुआ तो मिस्टर बद्रुद्दीन उसके सभापति चुने गये। इस सम्मेलन में परलोकगत नवाब मुहसिनुलमुल्क और बम्बई के गवर्नर लार्ड वेलिंगटन भी उपस्थित थे, और यद्यपि मिस्टर बद्रुद्दीन उस समय बम्बई हाईकोर्ट के जज और सरकारी नौकर थे, फिर भी अत्यन्त निर्भीकता तथा स्पष्टवादिता के साथ अपने राजनीतिक विचार प्रकट किये और मुसलमानों को सलाह दी कि अगर वह अपने देश की भलाई चाहते हों तो उन्हें कांग्रेस में सम्मिलित होकर उसका प्रभाव और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिए। इस भाषण में आपने स्त्री-शिक्षा के सम्बंध में भी जोरदार अपील की। आपका निश्चित मत था कि भारत में जब तक पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी शिक्षा न दी जायगी, देश उन्नति के सोपान पर न चढ़ सकेगा। उन्होंने ख़ुद अपनी लड़कियों को ऊँचे दरजे की अंग्रेज़ी शिक्षा दिलाई थी, यद्यपि मुसलमानों में उस समय तक यह एक असाधारण साहस का कार्य था।

मिस्टर बद्रुद्दीन परदे के भी विरोधी थे और अपने घर की स्त्रियों को इस बंधन से मुक्त कर दिया था। उनका विचार था कि

परदे से शारीरिक और मानसिक ह्रास होता है। आज सुशिक्षित मुसलमानों में परदे का बन्धन उतना कठोर नहीं है। लाहौर, देहली आदि नगरों में शरीफ़ज़ादियाँ बुरक़ा ओढ़े निस्संकोच बाहर निकलती हैं, पर उस समय प्रतिष्ठित महिलाओं का बाहर निकलना समाज में हँसी कराना और लोगों के व्यंग्य-बाणों का निशाना बनना था। इससे प्रकट होता है कि जस्टिस बद्रुद्दीन कितने दूरदर्शी और समय को पहचाननेवाले व्यक्ति थे।

हिन्दुस्तान में उस समय भी अंग्रेजी फैशन चल पड़ा था और आज तो वह इतना व्यापक है कि किसी कालिज या दफ़्तर में चले जाइए, आपको एक सिरे से अंग्रेज़ी फैशनवाले ही लोग दिखाई देंगे। उनकी बातचीत भी अधिकतर अंग्रेज़ी में होती है। उन्हें न जातीय भाषा से कोई विशेष प्रेम है, न जातीय पहनावे से, न जातीय शिष्टाचार से। वे तो जातीय आचार-व्यवहार का विरोध करने में ही अपने सुधार के उत्साह का प्रदर्शन करते हैं। संभवतः उनका मन यह सोचकर प्रसन्न होता है कि कम से कम पहनावा-पोशाक और तौर-तरीक़े में तो हम भी अंग्रेजों के बराबर हैं। जातीय पहनावा उनके विचार में पुराण-पूजा का प्रमाण है। पर जस्टिस बद्रुद्दीन ने हाईकोर्ट की जजी के उच्च पद प्रतिष्ठित होने और अंग्रेज़ी की ऊँचे दरजे की योग्यता रखने पर भी अपनी चाल-ढाल नहीं बदली। अदालत की कुरसी पर हो या मित्रों की मण्डली में, वही पुराना अरबी पहनावा बदन पर होता था।

जस्टिस बद्रुद्दीन बड़े ही स्वाभिमानी व्यक्ति थे। अपने कर्तव्यों के पालन में वह सदा बहुत ही ऊँचा आदर्श अपने सामने रखते थे। अफ़सरों के प्रसाद के प्रलोभन या रोष के भय से वह कभी अपनी अन्तरात्मा का गला न घोंटते थे। कांग्रेस के सुप्रसिद्ध नेता स्वर्गवासी पण्डित बालगंगाधर तिलक पर जब सरकार

ने राजद्रोह का मुक़दमा चलाया और वह दौरा सिपुर्द हुए तो उनके वकीलों ने उन्हें ज़मानत पर छोड़ने की दरख़्वास्त दी। वह दरख़्वास्त जस्टिस बद्रुद्दीन के इजलास पर पेश हुई। अधिकारियों का ख़याल मिस्टर तिलक की ओर से ख़राब था और इस 'सरकारी अपराधी' की ज़मानत मंजूर करना निश्चय ही सरकार की अप्रसन्नता का कारण होता। जस्टिस बद्रुद्दीन के लिए कठिन परीक्षा का प्रसङ्ग था। आप न्यायासन पर विराजमान थे और न्याय-नीति से तिलभर भी हटना आपको सहन न था। अतः आपने तिलकजी की ज़मानत मंजूर कर ली। सारे देश में आपकी न्यायनिष्ठा की प्रसिद्धि हो गई।

जस्टिस बद्रुद्दीन में स्वधर्म और स्वजाति का अभिमान कूट-कूटकर भरा हुआ था। इनकी उचित आलोचना सुनने में तो आपको आपत्ति न थी। पर इनका अपमान असह्य था। क़ाज़ी कबीरुद्दीन साहब ने आपके जीवन-वृत्तान्त का वर्णन करते हुए एक घटना लिखी है जो आपके जातीय स्वाभिमान पर प्रकाश डालती है। एक बार वक़्फ़ (धर्मोत्तर सम्पत्ति) के मुक़दमे में बम्बई के एडवोकेट जेनरल ने अदालत में कहा कि इस प्रश्न पर 'मोहन उनला' में संभवतः कोई फ़ैसला नहीं है। जस्टिस बद्रुद्दीन इसको सहन न कर सके और बोले—'मिस्टर एडवोकेट जेनरल, यह कहने का साहस करना कि इस मसले पर व्यापक और सर्वांगपूर्ण 'मोहन उनला' में कोई फ़ैसला नहीं है, इस पूजनीय विधान का अपमान करना है।' इस पर ऐडवोकेट जेनरल ने तुरत माफ़ी माँगी और कहा कि 'मोहन उनला' में कोई फ़ैसला न होने से मेरा अभिप्राय केवल यह था कि मेरी पहुँच वहाँ तक नहीं है, अर्थात् उसका अंग्रेज़ी में अनुवाद नहीं हुआ है।

एक दूसरे मौक़े पर एक अंग्रेज़ बैरिस्टर ने किसी मुक़दमे

पियन होने के कारण दूसरे गवाहों की अपेक्षा जो प्रतिष्ठित व्यापारी हैं पर हिन्दुस्तानी हैं, अधिक विश्वसनीय है। जस्टिस बद्रुद्दीन तुरन्त उन बैरिस्टर साहब की ज़बान पकड़ी और बोले—क्या आप सोचते हैं कि हर एक अंग्रेज़ हर एक हिन्दुस्तानी से स्वभावतः अधिक सत्यवादी और प्रामाणिक होता है? ऐसा कहना इस अदालत का अपमान करना है। बैरिस्टर साहब बहुत ही लज्जित हुए।

उस समय की इण्डियन नैशनल कांग्रेस के आप सदा प्रशंसक और सहायक रहे। एक बार किसी बैरिस्टर ने कांग्रेस के विषय में कुछ अनुचित शब्द कहे। जस्टिस बद्रुदीन ने उनसे तो कुछ न कहा, पर मुक़दमे का फैसला लिखते हुए कांग्रेस के प्रति अपने सद्भाव को दुहराया और लिखा—कांग्रेस वह प्रभावशालिनी संस्था है जो राष्ट्र की आवश्यकताओं और अंगों का सर्वोत्तम प्रकार से प्रतिनिधित्व करती है।

भारतवासियों की अव्यवस्थितता तो प्रसिद्ध ही है। समय का पालन ऐसा गुण है जिससे साधारणतया हम वंचित हैं। किसी सभा-सम्मेलन में जाइए वह अपने नियत समय से घण्टे-आध घण्टे बाद अवश्य होगी। रेल की यात्रा ही को लीजिए। या तो हम दो-ढाई घण्टे पहले स्टेशन पर पहुँच जाते हैं या इतना कम समय रह जाने पर कि दौड़कर गाड़ी में सवार होना पड़ता है। जस्टिस बद्रुदीन वक्त की पाबन्दी का ख़ास तौर से ध्यान रखते थे। थोड़ा-सा व्यायाम वह नित्य करते थे। कितना ही आवश्यक कार्य उपस्थित हो, इस काम में अन्तर न पड़ता था। हाँ, बीमारी की हालत में लाचारी थी। बल्कि जिस दिन काम की भीड़ अधिक होती थी उस दिन वह नित्य के समय से कुछ पहले ही व्यायाम आरम्भ कर देते थे। शाम को हाईकोर्ट से उठकर क्रॉसरोड के छोर तक पैदल जाना उनका नित्यनेम था और इसमें उन्होंने कभी अन्तर नहीं पड़ने दिया। ऐसे नियम-

वद्ध और समानगति से चलनेवाले जीवन में दृष्टान्त वहुत कम मिलते हैं।

११ अगस्त १९०६ ई० को आप परलोकगामी हुए और भारतमाता के ऐसे सपूत वेटे की यादगार छोड़ी जिस पर वह सदा गर्व करेगी।

सर सैयद अहमद ख़ाँ

क्या राजनीतिज्ञ रूप में, क्या साहित्य-सेवी रूप में, क्या मौलिक नेता तथा सुधारक रूप में और क्या जातिसेवक रूप में, सर सैयद अहमद को जो अमर कीर्ति प्राप्त है, वह भारत की इसलामी दुनिया में शायद ही किसी अन्य पुरुष को प्राप्त हो। हम-में से हर एक का कर्तव्य है कि इस श्रद्धेय पुरुष के जीवन-वृत्तान्त का ध्यान-पूर्वक अध्ययन करे और इसकी खोज करे कि उनमें वह कौन से गुण थे, जिनकी बदौलत वह इतनी मान-प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके और जाति की इतनी सेवा कर सके। उनकी अंग्रेज़ी की योग्यता बहुत मामूली थी, वह घर के मालदार न थे, जाति में भी उनके समर्थकों की संख्या उनके विरोधियों से अधिक न थी। पर इन बाधाओं के होते हुए भी साहित्य-संसार और कर्म-क्षेत्र दोनों में वह अपना नाम अमर कर गये। यह केवल जाति-सेवा का उत्साह था, जिसने सारी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त थी।

सैयद अहमद ख़ाँ ७ अक्टूबर, सन् १८१७ ई० को दिल्ली में पैदा हुए। उनकी शारीरिक शक्ति लड़कपन में भी असाधारण थी, पर बौद्धिक दृष्टि से उनकी गणना साधारणतः विद्यार्थियों में ही थी। उस समय कौन यह निश्चय रूप से कह सकता था कि एक समय आवेगा जब यह बालक अपने देश और जाति के लिए गर्व का कारण होगा। उनकी पढ़ाई भी साधारण मुसलमान बच्चों की तरह क़ुरान शरीफ़ से शुरू हुई। उनकी उस्तानी एक भले घर की परदानशीन महिला थीं। इससे प्रकट होता है कि उस ज़माने में भी शरीफ़ घरानों में बच्चों की शिक्षा स्त्रियाँ ही

को सौंपी जाती थी। आज यूरोप में आरम्भिक कक्षाओं में प्रायः स्त्रियाँ ही अध्ययन कार्य करती हैं। अपनी सहज कोमलता, धैर्य, सहनशीलता और वात्सल्य गुण के कारण वह स्वभावतः बच्चों की शिक्षा के लिए अधिक उपयुक्त होती हैं।

क़ुरान समाप्त करके सैयद अहमद ख़ाँ ने फ़ारसी और अरबी भी पढ़ाई प्रारम्भ की। १८-१९ बरस की उम्र में उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया। पर किताबें पढ़ने का शौक़ उन्हें आजीवन रहा। दिल्ली का साम्राज्य उस समय केवल एक मिटा हुआ निशान रह गया था। बादशाह लाल क़िले में किसी तकियादार फ़क़ीर की तरह रहता था और अंग्रेज़ सरकार की पेंशन पर गुज़र कर रहा था। बाबर और अकबर की सन्तति अब एक प्रकार से दिल्ली में क़ैद थी। सैयद अहमद के पिता शाही दरबार में नौकर थे, पर उनकी मृत्यु के बाद तनख़्वाह बन्द हो गयी और सैयद अहमद ख़ाँ को जीविका की चिन्ता उत्पन्न हुई। उन्होंने अंग्रेज़ सरकार की नौकरी स्वीकार कर ली और १८३९ ई० में आगरा कमिश्नरी के नायब मुंशी नियुक्त हुए। यहाँ उन्होंने इतनी तत्परता से काम किया कि दो ही साल में मुनसिफ़ बना दिये गये और मैनपुरी में तैनात कर दिये गये। इसी समय उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "आसारुल सनादीद" लिखी, जिसमें दिल्ली की पुरानी शाही इमारतों का वर्णन बड़ी खोज और विस्तार के साथ दिया गया है। इस ग्रन्थ की गणना उर्दू भाषा के 'क्लासिक'—उत्कृष्ट स्थायी साहित्य में की जाती है।

सन् '५७ के ग़दर में सैयद अहमद ख़ाँ बिजनौर में मुन्सिफ़ थे। यह वह आपत्काल था जब अंग्रेज़ अफ़सर और उनके बीबी-बच्चे बाग़ियों के डर से आश्रय ढूँढ़ते फिरते थे। बाग़ी जिस अंग्रेज़ को पा जाते, हद दरजे की बेदर्दी से क़तल कर डालते थे। उस समय बाग़ियों की मरज़ी के ख़िलाफ़ कोई काम करना ख़ुद अपनी जान ख़तरे में डालना था। पर सैयद अहमद ख़ाँ ने उस

कठिन काल में भी न्याय का पक्ष लेने में संकोच न किया और विपद्ग्रस्तों की सहायता में डट गये जो मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है। उनकी कोशिश से कितने ही अंग्रेज़ों की जान बच गयी। बाग़ियों को उन पर संदेह हुआ। उन्होंने आपके मकान को घेर लिया, उन्हें तरह-तरह की धमकियाँ दीं। यहाँ तक कि उनका मकान उनसे जबर्दस्ती खाली करा लिया और उनका माल—असबाब भी लूट लिया। सैयद अहमद ख़ाँ ने धैर्य और दृढ़ता के साथ यह सारी मुसीबतें झेल लीं। पर जिन्हें शरण दी थी, उन्हें बाग़ियों के हवाले न किया। जब विप्लव शान्त हो गया और अंग्रेज़ सरकार की सत्ता देश पर फिर से स्थापित हुई तो बाग़ियों के अपराधों के जाँच के लिए एक कमेटी बनायी गयी और सैयद अहमद उसके सदस्य बनाये गये। उस समय इस बात का बड़ा डर था कि अपराधियों के साथ निरपराध भी न पिस जायँ, आक्रमण करनेवालों के साथ आत्मरक्षा में तलवार उठानेवाले भी सरकार कोप-भाजन न हो जायँ। सैयद अहमद ख़ाँ इसी नेक इरादे से कमेटी में सम्मिलित हुए कि यथासम्भव निरपराधों की रक्षा करें। किसी निजी लाभ या पद-पुरस्कार की उन्हें कदापि कामना न थी। यहाँ तक कि जब एक बाग़ी मुसलमान रईस की बहुत बड़ी जायदाद जब्त कर ली गयी और सरकार ने उसे आपकी सेवाओं के पुरस्कार-रूप में उन्हें प्रदान करना चाहा तो उन्होंने उसे धन्यवाद के साथ लौटा दिया। एक विपद्-ग्रस्त भाई की तबाही से लाभ उठाना उनके आनदार इसलामी स्वभाव ने स्वीकार न किया।

दो साल बाद सैयद अहमद ख़ाँ ने "असबाबे बग़ावते हिन्द" नाम की पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उन्होंने तथ्यों और तर्कों से सिद्ध किया कि यह ग़दर न राष्ट्र-विप्लव था, न आज़ादी की लड़ाई और न किसी तरह की साजिश, किन्तु केवल सरकारी सिपाहियों ने अपने अफ़सरों की अवज्ञा की और वह भी अज्ञान और

अंधविश्वास-वश। चूँकि सरकार का यह ख़याल था कि इस ग़दर को उभारनेवाले मुसलमान हैं, इसलिए इस पुस्तक का उद्देश्य यह भी था कि मुसलमानों के सिर से यह इलज़ाम दूर कर दिया जाय, और इसमें संदेह नहीं कि सैयद अहमद ख़ाँ को इसमें सफलता मिली। उन्होंने इस पुस्तक को भारत सरकार और पार्लमेण्ट में भेजा और चूँकि सरकार को उनकी राज-भक्ति और शुभचिन्तना पर पूरा भरोसा था, इसलिए उसने उनके दिखाये हुए कारणों और दलीलों पर ठंढे दिल से विचार किया और जो शिकायतें उसे ठीक मालूम हुईं उनको दूर करने का वचन भी दिया। सैयद अहमद ख़ाँ के इस नैतिक साहस की किन शब्दों में बड़ाई की जाय, जिस समय सरकार का रुख़ सख्ती करने का था और किसी की ज़बान खोलने की हिम्मत न होती थी कि कहीं उस पर भी बग़ावत का संदेह न किया जाने लगे। उस समय सरकार के रुख़ की आलोचना करना और उसकी भूलों का भंडाफोड़ करना देश और जाति की बहुमूल्य सेवा थी।

सैयद अहमद ख़ाँ को जो काम सौंपा जाता था, उसे वह दिलोजान से पूरा करते थे। उनका सिद्धान्त था कि जो काम करना हो, उसे दिल से करना चाहिए बेदिली से या बेगार समझकर यह कोई काम न करते थे। वह मुरादाबाद में थे जब अवर्षण से फ़सल मारी गयी और देश में भयानक दुर्भिक्ष उपस्थित हो गया। सरकार वहाँ एक खैरातख़ाना खोला और उसका प्रबन्ध सैयद अहमद ख़ाँ को सौंपा। उस समय उन्होंने जितनी मुस्तैदी से अकाल-पीड़ितों की सहायता की, पर्दानशीन महिलाओं और भूखों मरते सफ़ेदपोशों को जिस हमदर्दी के साथ मदद पहुँचायी, उसकी यथोचित प्रशंसा नहीं की जा सकती। चाहे जिस धर्म या संप्रदाय का आदमी हो, सबके साथ उनकी एक-सी सहानुभूति थी।

आजकल तो धार्मिक वाद-विवादों का ज़ोर कुछ कम हो

गया है, पर उस ज़माने में ईसाई पादरी इसाई मत के प्रचार के जोश में हिन्दू और मुसलमान मज़हबों पर खुलेआम आक्षेप किया करते थे। और चूँकि उस समय आलिमों और पंडितों में यह योग्यता न थी कि वह शास्त्र-वचनों और धार्मिक परम्पराओं की युक्ति-संगत व्याख्या कर सकें और शब्दों में पर्दे में छिपे हुए अर्थ को स्पष्ट कर सकें। इस कारण ईसाई प्रचारकों के सामने वह निरुत्तर हो जाते थे और इसका जनसाधारण पर बहुत बुरा असर पड़ता था। सैयद अहमद ख़ाँ ने पादरियों के इस हमले से इसलाम को बचाने के लिए यह आवश्यक समझा कि उनके आक्षेपों का मुँहतोड़ जवाब दिया जाय और क़ुरान और बाईबिल की तुलना करके दिखाया जाय कि दोनों धर्म-ग्रन्थों में कितनी समानता है। इसी उद्देश्य से उन्होंने बाइबिल की टीका लिखना आरम्भ किया, पर वह पूरी न हो सकी। परन्तु नौकरी से पेंशन लेने के बाद जब उन्हें अवकाश और इतमीनान प्राप्त हुआ तो उन्होंने इस विचार को अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'तफ़सील क़ुरान' के द्वारा पूरा किया। इसलाम के सिद्धान्तों और शिक्षाओं पर दार्शनिक दृष्टि से किये जानेवाले आक्षेपों का बड़ी खोज और विवेचना के साथ जवाब दिया।

हिन्दू-मुसलमान दोनों ही अशिक्षा और अज्ञान के कारण शास्त्र-वचनों और धर्म के साधारण विधि-निषेधों को आँख मूँद-कर मानते आते थे। उन वचनों की युक्ति-संगत व्याख्या तो वह क्या करते, उनके मन में कोई शंका ही न उठती थी; क्योंकि शंका तो शिक्षा और जिज्ञासा का सुफल है। वह लोग अपने पुरखों के पदानुसरण करने में ही सन्तुष्ट थे। धर्म एक रूढ़ि मात्र बन गया था, मानो प्राण निकल गया हो, देह पड़ी हो। इसी कारण हिन्दू-मुसलमानों की अवस्था अपने धर्म से हटने लगी थी। अंग्रेजी शिक्षा के आरंभिक युग में कितने ही शिक्षित हिन्दू ईसाई हो गये। अन्त को राजा राममोहन राय को एक ऐसे

सम्प्रदाय की स्थापना आवश्यक जान पड़ी जो पूर्णतया दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित हो, और उसमें वह सब सुविधाएँ और स्वाधीनताएँ प्राप्त हों, जो लोगों को ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट किया करती थीं और इस नये सम्प्रदाय का नाम ब्राह्मसमाज रखा गया। इस सम्प्रदाय से जात-पाँत, छूत-छात, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-स्नान, श्राद्ध और वह सब विधि-विधान निकाल दिये गये जिन पर ईसाइयों के आक्षेप हुआ करते थे। यहाँ तक कि उपासना-विधि भी बदल दी गयी। इसमें सन्देह नहीं कि इस सम्प्रदाय ने हिन्दुओं में ईसाइयत की बाढ़ को बहुत कुछ रोक दिया। इसके बहुत दिन बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की नींव डाली जिसने पश्चिम भारत में वही काम किया जो पूर्व में ब्राह्मसमाज ने किया था। 'तफ़सीरुलकुरान' भी इसी उद्देश्य से लिखी गयी कि नवयुवक मुसलमानों के मन में अपने धर्म के विषय में जो शंकाएँ उठें, उनका समाधान कर दिया जाय। पर मुसलमान इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही सैयद अहमद ख़ाँ पर कुफ़्र का फ़तवा लेकर दौड़े। उन पर नास्तिक, अनेकेश्वरवादी और प्राकृतिपूजक होने का दोष लगाया। देश के एक सिरे से दूसरे तक आग लग गयी और जवाबी किताबों का सिलसिला शुरू हुआ। लेखक पर तरह-तरह के अनुचित और असंगत आरोप किये जाने लगे। कोई-कोई तो यह भी सोचने लगे कि सैयद अहमद ख़ाँ विलायत जाकर ईसाई हो आये हैं और इसलाम को नष्ट करने के उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी है। बहुत दिनों के बाद यह कोलाहल शान्त हुआ और आज 'तफ़सीरुल कुरान' तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए पथप्रदीप का काम कर रही है।

सैयद अहमद ख़ाँ के जीवन का सबसे बड़ा कार्य मदरसतुल उलूम अलीगढ़ कालिज है जो अब मुसलिम विश्वविद्यालय का रूप प्राप्त कर उनका अमर स्मारक बन रहा है। मुसलमानों में निर्धनता और बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ रही

थी और इस बाढ़ को रोकने के लिए उनमें पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार होना अत्यावश्यक था। मदरसतुल उलूम ने इस अभाव की बहुत अच्छी तरह पूर्ति कर दी, पर उस समय लोग पश्चिम की शिक्षा-दीक्षा से ऐसे भड़क रहे थे कि उन्हें डर था कि कहीं हमारा धर्म भी हमारे हाथ से न चला जाय और फिर हम कहीं के न रहें। पर सर सैयद अपने संकल्प में दृढ़ थे। उन्होंने इस विचार से इंगलैंड की यात्रा की कि यहाँ के प्राचीन विश्वविद्यालयों के संघटन और व्यवस्था का अध्ययन करें और उसी नमूने पर हिन्दुस्तान में अपने कालिज की स्थापना करें। १ अप्रैल सन् १८६९ ई० को वह विलायत के लिए रवाना हो गये। लन्दन में जिस ठाठ से उनका स्वागत किया गया और जितनी आवभगत हुई, उसने उन्हें सदा के लिए अंग्रेजों के साथ प्रेमबंधन में बाँध दिया। करीब दो साल तक वहाँ के कालिजों के प्रबंध का बारीकी से अध्ययन करने के बाद वह भारत लौटे और 'मदरसतुल उलूम' के उद्घाटन की तैयारी करने लगे। इस उद्देश्य की सिद्धि और मुसलमानों में साहित्य और विद्या की सम्यक् रुचि उत्पन्न करने के विचार से उन्होंने "तहज़ीबुल अख़लाक़" नामक मासिक पत्र निकाला। पर आलिमों की मंडली ने इस पत्र का विरोध आरम्भ किया और मुसलमान जनता के कालिज के उद्योग की ओर से भड़काने लगे। शायद कुछ लोगों ने सोचा हो कि यह इंगलैंड से अपना धर्म खोकर आये हैं। पर सर सैयद ने हिम्मत न हारी और लगातार ५ साल के अथक उद्योग से १८७५ ई० में अलीगढ़ में मदरसतुल उलूम का उद्घाटन हुआ। इसमें संदेह नहीं कि इस संस्था की स्थापना से मुसलमानों का जितना अभ्युदय हुआ वह और किसी तरह उतना न हो सकता था। आज मुसलिम विश्वविद्यालय मुसलमानों का जातीय स्मारक है और उसके विद्यार्थी हिन्दुस्तान के कोने-कोने में उसका झण्डा लिये घूम रहे हैं।

सैयद अहमद ख़ाँ का ख़याल हिन्दुओं की ओर से महज़ इस बात पर ख़राब हो गया कि १८६७ ई० में संयुक्त-प्रान्त में हिन्दुओं की ओर से यह कोशिश हुई कि नागरी इस सूबे की अदालती भाषा बना दी जाय। सैयद अहमद ख़ाँ ने इसे हिन्दुओं की ज़्यादती समझा, यद्यपि यह उद्योग केवल जनसाधारण के सुभीते की दृष्टि से आरम्भ किया गया था। स्पष्ट है कि जिस सूबे में हिन्दुओं की आबादी ८० प्रतिशत से भी अधिक हो और उसमें अधिकतर लोग देहात के रहनेवाले उर्दू से अपरिचित हों, वहाँ उर्दू का अदालती भाषा होना खुला अन्याय है। मुट्ठी भर उर्दू दाँ लोगों के लाभ या सुभीते के लिए जनता के बहुत बड़े भाग को असुविधा और ख़र्च उठाने को बाध्य करना किसी प्रकार उचित नहीं और इस आंदोलन का यह उद्देश्य था कि उर्दू एकबारगी मिटा दी जाय। पर सर सैयद के मन में यह शङ्का बस गयी कि हिन्दू मुसलमानों को नीचा दिखाना चाहते हैं। सम्भव है, कुछ और भी कारण उपस्थित हो गये हों, जिनसे इस धारणा की पुष्टि हुई हो कि हिन्दू-मुसलमान का मेल और एका अनहोनी बात है। दोनों जातियों में ऐतिहासिक और धर्म-गत विभेद बिलगाव पहले से ही मौजूद थे। मुग़ल साम्राज्य की समाप्ति और अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना ने इन विरोधों को मिटाना और पुराने भावों को भरना आरम्भ ही किया था कि यह नये झगड़े उठ खड़े हुए और संयुक्त राष्ट्रीयता का लक्ष्य सुदीर्घकाल के लिए हमारी आँखों से ओझल हो गया। धर्म-संप्रदायों के मत-भेदों का सक्रिय शत्रुता के रूप में परिवर्तित हो जाना कितना आसान है, यह हम आये दिन आँखों से देख रहे हैं। आज ज़रा-ज़रा-सी बातों पर, जिनका सिद्धान्त की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं, आपस में मार-काट मच जाती है और राष्ट्र की शक्ति का एक बड़ा भाग इस गृह-कलह के अग्नि कुण्ड में स्वाहा हो जाता है। ऐसा कोई साल नहीं जाता जब दो-चार स्थानों में लोमहर्षण

साम्प्रदायिक दंगे न हो जाते हों। कितने दुःख की बात है कि उस समय उभय-पक्ष की अनुदारता और अदूरदर्शिता ने आपस के उस मेल-मिलाप और सहिष्णुता के रास्ते में रोड़े अटका दिये, जिसकी नींव पर ही संयुक्त राष्ट्रीयता की इमारत उठायी जा सकती है। सम्भव है सर सैयद ने इस विचार से कि मुसलमान पहले इस देश पर राज्य कर चुके हैं, उनके साथ कुछ विशेषता-प्रदर्शन की आवश्यकता समझी हो, पर हिन्दू समान पद से अधिक और किसी रिआयत के लिए तैयार न थे। सर सैयद ने उस समय उदारता से काम लिया होता तो हिन्दुस्तान की हालत कुछ और होती। पर उन्होंने तात्कालिक और निकट भविष्य के लाभों को स्थायी और राष्ट्रीय हितों पर प्रधानता दी। शासित हिन्दुओं की अपेक्षा शासक अंग्रेजों से मेल रखना कहीं अधिक लाभजनक था। सरकार के हाथ में अधिकार थे, पद थे और उन्नति के अपरिमित साधन थे। हिन्दुओं की दोस्ती में परस्पर मिलकर रोने के सिवा और क्या धरा था। सर सैयद का यह विचार-परिवर्तन उस समय और भी स्पष्ट हो गया, जब वह विलायत गये। वहाँ उन्होंने जो कुछ देखा उससे इस नतीजे पर पहुँचे कि मुसलमानों का हित अंग्रेजों से मेल रखने में है, और इस प्रकार उस कार्य-प्रणाली की नींव पड़ी जो दिन-दिन अधिकाधिक भयावह रूप ग्रहण करती जा रही है। यहाँ तक कि आज उसने आपस के मेल-मिलाप को ही असंभव नहीं बना दिया है, देश के वायु-मण्डल को भी विषाक्त कर दिया है। देश दो परस्पर विरोधी भागों में विभक्त हो गया है और उसका घातक प्रभाव आपस की मार-काट के रूप में प्रकट होता है। दोनों पक्ष एक तीसरी शक्ति का अधिकारारूढ़ रहना अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अनिवार्य आवश्यक समझते हैं। सर सैयद जैसे प्रभावशाली और प्रगतिशील पुरुष ने संयुक्त राष्ट्रीयता का पक्ष ग्रहण किया होता तो आज हिन्दुस्तान कहीं से कहीं पहुँचा होता।

गन्दे गढ़े के कीटाणु ऐसे सख़्तजान होते हैं कि एकबार जहाँ पुष्ट हुए कि फिर उनका नाश असंभव हो जाता है। अतः उस समय से अब तक मेल और एका के जितने यत्न किये गये सब विफल हुए, एकता और मेल की मंज़िल आज भी उतनी ही दूर है।

सर सैयद में आदमियों को पहचानने की स्वाभाविक शक्ति थी और जिस व्यक्ति के प्रति एक बार उनकी अच्छी धारणा हो गयी, फिर उसके विरुद्ध कोई शिकायत न सुनते थे। मेहनत का यह हाल था कि अकेले जितना दिमाग़ी काम कर सकते थे, उतना कई आदमी मिलकर भी न कर सकते थे। बहुत ही हँस-मुख, मुरौवतदार, उदारमना और सुवक्ता थे। उनकी वाणी में मोहिनी थी, सुननेवाले मंत्रमुग्ध-से हो जाते थे। उनका कहना था कि किसी महत्कार्य की सिद्धि के लिए विद्वत्ता की उतनी आवश्यकता नहीं है—जितनी अनुभव और अवसर पहचानने की योग्यता की। विरोधी भी उनके सामने जाकर सहायक बन जाता। बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि उससे प्रभावित न होना असंभव था।

सर सैयद ने उर्दू भाषा की जो सेवा की, उसकी सराहना किन शब्दों में की जाय। यों कहना चाहिए कि उर्दू उन्हीं के आश्रय में पाली-पोसी गयी। उस समय तक उर्दू में शायरी का बाज़ार गर्म था। साहित्य पद्यरचना और कवि-चर्चा तक सीमित था। उसमें न गहराई थी, न ऊँचाई। कठिन विषयों की चर्चा और गंभीर भावों को व्यक्त करने की उसमें योग्यता न थी। ऐतिहासिक, आलोचनात्मक और शास्त्रीय विषयों पर उसे अधिकार न था। सर सैयद ने इन विषयों पर "तहज़ीबुल अख़लाक़" में जो निबंध लिखे, वह उर्दू के 'क्लासिक'—स्थायी साहित्य है। उनके शब्द-शब्द से गंभीर अध्ययन, मानव-प्रकृति का सूक्ष्म परिचय और शास्त्रीय विषयों का पाण्डित्यपूर्ण आलोचना टपक रहा है। कहने का ढंग इतना सीधा सादा है कि साधारण विद्या-

बुद्धि का मनुष्य भी अनायास समझ ले। न पेचदार पद-विन्यास, न उलझे हुए वाक्य, न क्लिष्ट शब्दावली। क्लिष्ट से क्लिष्ट भावों को इतनी सरलता से व्यक्त कर जाते हैं कि देखकर दंग रह जाय। यद्यपि ये निबंध सब के सब उनके दिमाग़ से नहीं निकला है, बेकन, एडिसन और कई अन्य साहित्यकारों के भावों की छाया ग्रहण की गयी है। पर कहने का ढंग उनका अपना है, और उसने निबंधों में नयापन पैदा कर दिया है। उनकी साहित्य सेवा के पुरस्कार-स्वरूप सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि प्रदान कर अपनी गुणज्ञता का परिचय दिया।

आयु के अन्तिम भाग में लगातार बीमारियों के कारण सर सैयद बहुत कमज़ोर हो गये थे। पर उस अवस्था में जाति पर मिटा हुआ यह महापुरुष उसी उत्साह से जाति-सेवा में जुटा हुआ था। अन्त को १८९८ ई० की २७ वीं मार्च को महाप्रस्थान का संदेश आ गया और उसने अपने जीवन के अनेक अमर स्मृतिचिह्न छोड़कर इस नश्वर जगत् से कूच किया।

मौ० अब्दुलहलीम 'शरर'

मौलाना अब्दुलहलीम 'शरर' के पिता हकीम तफ़ज्जुल हुसैन साहब साधुप्रकृति, धर्मनिष्ठ मुसलमान थे। हनफ़ी सम्प्रदाय के अनुयायी, सूफ़ी सिद्धान्तों के माननेवाले, लखनऊ के झँवाई टोले में रहते थे। इसी मकान में ग़दर के दो साल बाद १७ जमादी उस्सानी सन् १२७५ हिज्री को दो बजे सुबह मौलाना शरर ने जन्म लिया।

हकीम तफ़ज्जुल हुसैन मध्यम श्रेणी के व्यक्ति थे और शाही मुंशियों में नौकर थे। फिर भी लड़के को पढ़ाने-लिखाने की पूरी कोशिश की। ६ साल की उम्र में मौलाना की पढ़ाई का सिल-सिला शुरू हुआ। साल भर तक माता के पास पढ़ते रहे और क़ुरान का एक पारा भी समाप्त न हुआ। बचपन में वह बड़े ही नटखट थे। माता ने एक बार किसी बात पर क्रुद्ध होकर मारा तो इन्होंने गुस्से में उनकी उँगली चबा ली। मौलाना आठ बरस के हुए तो उनके पिता कलकत्ते में मुंशी उस्सुलतान के दफ़्तर में नौकर होकर वहाँ जाने लगे और इन्हें भी साथ लेते गये। वहीं उनकी पढ़ाई होने लगी। पहले हाफ़िज़ इलाहीबख़्श से साल भर में क़ुरान समाप्त किया। फिर दो बरस में 'मैयते-आमिल' गुलिस्ताँ और बोस्ताँ पढ़ी। मुल्ला बाक़र से 'हिदायतुलनहो', काफ़िया' और 'मुल्लाजामी' का अध्ययन किया। मुंशी अब्दुललतीफ़ से 'शरह बक़ाया' और ख़ुश-नवीशी (लिपि-कला) सीखी। मौलाना तबात-बाई से भी कुछ अरबी की किताबें निकालीं। हकीम मसीह से हकीमी पढ़ी और १५ साल की उम्र में शाही मुंशियों में अपने

पिता की जगह पर नौकर हो गये। उनके पिता लखनऊ चले आये। उस समय मौलाना का उठना-बैठना शाही खानदान के युवकों के साथ था और सुहवत के असर ने कुछ रङ्ग बदला तो उनके पिता ने उनको लखनऊ बुलवा लिया। यहाँ आकर मौलाना अब्दुलहई के शागिर्द मौलवी अब्दुल वारी से दर्शन की पुस्तकें पढ़ीं और मौलाना अब्दुलहई से भी कुछ अध्ययन किया। लखनऊ से देहली गये और मौलाना नज़ीद हुसेन साहब से हदीस की पुस्तकें पढ़ीं, तथा अब्दुल वहाव नज्दी को 'तौहीद' नामक पुस्तिका का उलथा किया। देहली से खासे तर्कवादी बनकर लखनऊ आ गये। यहाँ आपके पिता ने हकीम साहुद्दीन की बेटी से व्याह तै कर रखा था, सो लखनऊ आते ही शादी हो गयी। अब मौलाना "अवध अख़बार" में ३०) मासिक पर नौकर हो गये। कुछ अंग्रेजी भीं सीख ली थी। शायरी का शौक़ पैदा हुआ। उस ज़माने में मुंशी अमीर अहमद मीनाई की शायरी की बड़ी धूम थी, उन्हीं के शागिर्द हुए और 'शरर' (चिनगारी) उपनाम रखा।

'अवध अख़बार' में 'शरर' के लेखों ने एक हलचल डाल दी। लोग उन्हें बड़े चाव से पढ़ते थे। इस नौकरी के सिलसिले में कई बार हैदराबाद जाने का संयोग हुआ और नवाब वक़ारुल उमरा तक पहुँच हो गयी। मौलाना के पिता भी उस समय हैदराबाद में ही नौकर थे और बुढ़ौती में पेंशन ले ली थी। मौलाना यद्यपि 'अवध अख़बार' में नौकर थे और लेख लिखा करते थे, फिर भी आपको मित्र-मण्डली में बैठने और गप-शप का समय मिल जाता था। उनके एक दोस्त मौलवी अब्दुल बासित कुरसी के रहनेवाले बड़े बात के धनी, आत्मसम्मानी वीर और लकड़ी की कला में उस्ताद थे। उनके नाम से 'महशर' नामक मासिक पत्र दिकाला जिसका दफ़्तर चौक बज़ाज़ा में क़ायम किया। वहीं मौलवी साहब की भी बैठक जमने लगी।

मौलवी हिदायत रसूल उनके महल्ले के रहनेवाले और दोस्त थे, अकसर वह भी साथ रहते थे। लाला रौशनलाल खत्री थे, जो मुसलमान हो गये थे, वह भी उसी गुट्ठे के यार थे। मौलवी मासूमअली भी उसी मण्डली के थे पर अपनी सभ्यता और मौलवीपन के अभिमान के कारण गोष्ठी में निस्संकोच सम्मिलित न होते थे। 'महशर' की अच्छी ख्याति हुई पर मौलाना के मन-मौजीपन के कारण वह भी बन्द हो गया।

ब्याह के दो बरस बाद मौलाना को चिन्ता हुई कि जीविका का कोई स्थायी उपाय निकालें, अतः 'अवध अखबार' से अलग होकर 'दिल गुदाज़' नाम से अपना मासिक पत्र निकाला। उसका आधा भाग काल्पनिक लेख होते थे, दूसरा उपन्यास। आपका पहला उपन्यास 'दिलचस्प' है। उस ज़माने में उर्दू में एक उप-न्यास लेखक मौलवी साहब थे, दूसरे पण्डित रतननाथ 'सरशार' कश्मीरी। 'सरशार' ने मस्ताना रंग अख्तियार किया। उनका मतलब यह था कि मेरा उपन्यास आप लोगों में दिलचस्पी से देखा जाय। इसलिए उन्होंने दास्ताने अमीर हमज़ा का अनुसरण करके नायक 'आज़ाद' को वीर, मनमौजी, स्वच्छन्द, आशिक-मिज़ाज, चालाक ठहराया और बदीउज्ज़माँ अफ़ीमची को वख़तक का रूप दिया और उस पर निर्लज्जता का अन्त कर दिया। यह रङ्ग ऐसा जमा कि उस समय के समाज ने हाथों हाथ लिया।

मौलाना ने देखा कि इस रंग के सामने कोई नया रंग जमाना कठिन है। अतः उन्होंने रिन्दाना या मस्ताना रंग सरशार के लिए छोड़ दिया और अपने लिए एक नया रास्ता निकाला। इसलाम और अरब की ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर मुसलमानों की सभ्यता, संस्कृति, साहस, धर्मनिष्ठता, उदारता, साहित्य-सेवा, वज़ादारी आदि को अंग्रेज़ी के ढङ्ग पर लिखना आरम्भ किया।

दिलचस्प का आकर्षक रङ्ग-रूप दिया। मलिकुल अज़ीज़

उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि आम और ख़ास रिन्द और मौलवी सबने उसको पढ़ा और गहरी दिलचस्पी से देखा। 'मंसूर मोहना' को लोगों ने आँखों पर जगह दी। दुर्गेशनन्दिनी हसन अजीलना बहुत लोकप्रिय हुए। हिन्दुस्तान का कोई शिक्षित मुसलमान ऐसा न था, जिसने मौलाना के उपन्यास न पढ़े हों। यहाँ तक कि कुछ ऐसे आलिम भी, जिन्हें नाविल के नाम से चिढ़ थी, मौलाना की रचनाओं का पढ़ना पुण्य-जनक कार्य समझते थे। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा और भाव में इतनी सभ्यता और गम्भीरता थी कि सारे हिन्दू-मुसलमान समाज में उनकी शैली लोकप्रिय हुई। सब सुसंस्कृत लोगों ने उनकी पुस्तकों को अपने पुस्तकालयों में सादर स्थान दिया और उनके अवतरण पाठ्य पुस्तकों में दिये जाने लगे।

'दिलगुदाज़' अभी पूरे दो बरस भी न निकलने पाया था कि नवाब वक़ारुलमुल्क ने मौलाना को बुलाकर अपने लड़कों के साथ इङ्गलैण्ड भेज दिया। डेढ़ बरस के बाद मौलाना इस यात्रा से लौटे तो कुछ ही दिनों के बाद नवाब वक़ारुलमुल्क पदच्युत हो गये और महाराज किशुनप्रसाद वज़ीर हुए। लाचार मौलाना फिर लखनऊ लौट आये और 'दिलगुदाज़' फिर जारी हुआ। इसके सिवा भी मौलाना ने कुछ उपन्यास लिखकर 'पयामेयार' के सम्पादक को उचित पुरस्कार लेकर दिये।

लोग कहते हैं कि आरम्भ में मौलाना ने अनेक पत्रों में पारिश्रमिक लेकर काम किया और एक दैनिक पत्र में जो अनवार मुहम्मदी प्रेस से मुंशी मुहम्मद तेग़बहादुर के प्रबन्ध से निकलता था, कई लेख लिखे। 'सहीफ़एनामी' नामक पत्र में भी, जो नामी प्रेस लखनऊ से निकलता था, कुछ काम किया।

पहली स्त्री से मौलाना के दो लड़के और दो लड़कियाँ थीं। बड़े लड़के मुहम्मद सिद्दीक़ हसन की पढ़ाई एंट्रेंस तक हुई। छोटे लड़के मुहम्मद फ़ारूक़ उच्च-शिक्षा प्राप्त कर रहे थे और

मौलाना के दफ़्तर का काम अच्छी तरह सँभाल लिया था, पर १८ बरस की उम्र में बीमार होकर चल बसे। इसका मौलाना के हृदय पर कुछ ऐसा आघात पहुँचा कि बहुत दिनों तक काम बन्द रहा। इसके बाद एक लड़की की भी मृत्यु हो गयी।

५० वर्ष की अवस्था में मौलाना ने दूसरा व्याह किया, जिसके बाद वे फिर हैदराबाद गये और वहाँ शिक्षा-विभाग के उपाध्यक्ष नियुक्त हुए। वहीं से 'दिलगुदाज़' निकालने लगे और 'तारीखे-सिंध' लिखी जिस पर निज़ाम की सरकार से ५ हज़ार रुपया इनाम मिला। कुछ दिन बाद हैदराबाद से सम्बन्ध विच्छेद कर लौट आये और 'हमदर्द' के दफ़्तर में अच्छी तनख़्वाह पर नौकरी करके देहली तसरीफ़ ले गये; पर वहाँ का समाज इन्हें न रुचा और साल भर के अन्दर ही वहाँ से चले आये। हैदराबाद से फिर बुलावा आया। १००) माहवार तो वहाँ से पेंशन मिलती थी। ४००) मासिक पर इसलाम का इतिहास लिखने पर नियुक्त हुए। मगर इस बार मौलाना हैदराबाद में न टिके, निजाम की इजाज़त लेकर लखनऊ लौट आये और ५ बरस तक इस काम में लगे रहे। निज़ाम सरकार ने इस इतिहास को बहुत पसन्द किया। इस बीच 'दिलगुदाज़' ने बड़ी उन्नति की और हर साल एक नया उपन्यास भी पाठकों को मुफ़्त मिलने लगा।

दूसरे महल से मौलाना के दो लड़के और दो लड़कियाँ हैं; जिनमें सबसे छोटी एक लड़की है। मौलाना जिस समय हैदराबाद में शिक्षा-विभाग के उपाध्यक्ष थे, वहाँ एक उपन्यास परदे की बुराइयों पर लिखा था। फिर लखनऊ में आकर 'परदए असमतन' निकाला जिसके सम्पादक हसन शाह थे। इस बीच एक अप्रिय विवाद भी छिड़ गया। स्वर्गवासी पण्डित ब्रजनारायण चकवस्त ने मसनवी 'गुलज़ारे नसीम' का एक नया संस्करण निकाला। उसकी प्रस्तावना में 'नसीम' की बड़ाई और

दूसरे कवियों की निन्दा का पहलू निकलता था। मौलाना ने उसकी समालोचना की और इसी सिलसिले में मसनवी के कुछ दोषों की भी चर्चा की। इसका जवाब 'अवध पंच' ने अपने ख़ास ढङ्ग में दिया, जिसके बाद मौलाना ने 'ज़रीफ़' नाम का पत्र निकाला और 'पञ्च' के ही रङ्ग में प्रत्युत्तर लिखा। 'ज़रीफ़' के सम्पादक मुंशी निसार हुसैन थे। यह बहस आठ महीने तक जारी रही। दोनों पक्ष से बड़ा खण्डन-मण्डन होता रहा। फिर मौलाना ने 'अल्इरफ़ान' नाम का मासिक पत्र निकाला जिसके सम्पादक हकीम सिराजुल हक़ थे। इसमें भी सब लेख मौलाना के ही होते थे, पर यह रिसाला बहुत ही कम दिन जिया।

मौलाना की सभी रचनाएँ लोकप्रिय हुईं और इतनी हुईं कि 'सर्वाधिकार संरक्षित' होने पर भी कितने ही छापाख़ानों ने 'शहीदेवफ़ा' 'मलिकुल अजीज़ वर्जना' 'मंसूर मोहना', 'दुर्गेश-नन्दिनी', 'दिलचस्प', 'दिलकश', 'फिरदौसे बरीं', 'फ़्लोरा फ़्लोरंडा' को बार-बार छापकर लाभ उठाया। उन्होंने इतने ही पर सन्तोष नहीं किया, हुस्न का डाकू, और 'दरबारे हरामपूर' को बदलकर, बिगाड़कर, आकार और मूल्य घटाकर, घटिया काग़ज़ पर छाप-कर लोगों को धोखा दिया और नफ़ा कमाया। यों तो मौलाना की सभी रचनाएँ लोकप्रिय हुईं पर आरम्भ के उपन्यासों में मलिकुल अज़ीज वर्जना, मंसूर मोहना, दुर्गेशनन्दिनी, और शहीदेवफ़ा को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और अन्तिम रच-नाओं में 'हुस्न का डाकू', 'शौक़ीन मलका' 'जूयाएहक़' और 'दरबारे हरामपूर' बेहद पसंद किये गये।

मौलाना को साहित्यसेवा का इतना उत्साह था कि आज एक भी आदमी उनकी बराबरी करनेवाला नहीं दिखाई देता। ७० साल की उम्र हुई, ५५ बरस तक उर्दू भाषा की सेवा में संलग्न रहे। 'अवध अख़बार' 'सहीफ़ए नामी' और 'हमदर्द' में काम किया, 'महशर', 'मुहज़्ज़ब', 'दिलगुदाज़', 'इत्तेहाद' 'परदए

असमत' 'अलइरफ़ान'—इन सब मासिकों में लेख लिखे। इनमें से 'दिलगुदाज़' को ४६ बरस तक चलाया। इसके बाद उनकी रचनाओं की ओर देखिए तो उनकी गिनती १०० पुस्तकों से ऊपर है। 'दिलगुदाज़' के कितने ही लेख इतिहास से कई अध्याय और उपन्यासों के कुछ परिच्छेद पाठ्य-क्रम में सम्मिलित हैं। कुछ उपन्यासों का अनुवाद दूसरी भाषाओं में भी हुआ है।

शेष वय में मौलाना का झुकाव अध्यात्म की ओर हुआ और उसका आरंभ पुराने इसलामी सन्तों की जीवनी हुआ। सवानेह उम्री ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, सवानेह अबूबकर शिबली और और इसी प्रकार की अन्य पुस्तकें लिखीं। पक्के हनफ़ी सूफ़ी और रोज़ा नमाज़ के पाबंद होगये। नमाज़ तो एक ही नियम से पढ़ते रहे। जो धर्मभीरुता अन्तिम काल में उत्पन्न होगयी थी उसका दरजा बहुत ऊँचा था। चालीस-पचास बरस की उम्र तक तुर्की टोपी पहनी और फ्रेंच दाढ़ी रखी, खिज़ाब भी लगाते रहे, पर इस समय उनका हुलिया और ही था। चौगिया (चौगोशिया) टोपी, लम्बी सफ़ेद दाढ़ी, भरा हुआ बदन, मँझोला क़द, गोला तेजयुक्त मुख-मण्डल, ज़बान पर इसलाम और इसलामी इतिहास की चर्चा थी। बातों-बातों में ख़ुदा और रसूल की चर्चा का पहलू निकाल लेते थे।

अन्तिम काल में उनका आना-जाना बस घर से झँवाईटोले तक रह गया था। पर यह असंभव था कि वह आवश्यकतावश हमारी ओर से निकलें और हमसे न मिलें और अपने दो-चार मिनट खर्च न कर दें। साल भर का अरसा हुआ जब मौलाना कुछ बीमार हुए और स्वप्न में देखा कि उनके कुछ परलोकगत पूर्वपुरुष उनसे कह रहे हैं कि अब तुम चले आओ। मौलाना ने यह सपना लोगों को सुनाया और कहा कि अब आशा नहीं कि हम इस बीमारी से उठेंगे। मित्रों ने कहा कि आप घबरायँ नहीं, हम दुआ करेंगे और आप अच्छे हो जायँगे। संयोग से ऐसा ही

हुआ। मौलाना अच्छे हो गये और ऐसे अच्छे हुए कि अपना काम अच्छी तरह करने लगे।

मौलाना १० बजे से क़लम लेकर बैठते और दो बजे तक बराबर लिखा करते थे। दो से ४ बजे तक कमरे में जाकर सोते थे या आराम से लेटे रहते थे। शाम को मित्रों से मिलने-जुलने चले जाते थे और अकसर ८-९ बजे रात को घर आते थे। लेख-शैली जैसी पारदर्शितापूर्ण थी, वक्तृता वैसी न होती थी। पर आरंभ करने के बाद धीरे-धीरे उसे भी रोचक बना लेते थे और उपसंहार बहुत ही मनोरंजक होता था।

काव्य-रचना आपकी नाममात्र है। शुरू जवानी में कुछ ग़ज़लें कही थीं और दो मसनवियाँ 'शबेग़म' और 'शबे वस्ल' लिखीं जो लोकप्रिय हुईं। परन्तु काव्यकला के पण्डित थे और उस पर अकसर भाषण किया करते थे।

अन्तिम उपन्यास 'नेकी का फल' लिखा था जो मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। इस नाम से आपके महाप्रस्थान का सुन्दर अर्थ निकलता है।

विधि-विधान की विचित्रता को देखिए कि सन् १९२६ ई० को विदा करते हुए अपनी ही लेखनी से अपनी निधन वार्ता 'दिल-गुदाज़' के पन्नों पर लिखते हैं, और यह नहीं सोचते कि मैं वर्ष का वर्णन नहीं किन्तु अपनी हालत लिख रहा हूँ, लिखते हैं—

"इतनी ही थोड़ी मुद्दत में उसने बचपन की नादानियाँ, जवानी की उमंगें और बुढ़ापे की पुख़्ताकारियाँ सब देख लीं और अब पाँच-छः रोज का मेहमान है।

क्या मालूम था कि सचमुच यह लिखने के पाँच-छः रोज़ के बाद मौलाना बीमार हो जायँगे और एक सप्ताह भी रोग-शय्या पर रहना न बदा होगा।

रेनाल्ड्स

जोशुआ रेनाल्ड्स सैमुएल रेनाल्ड्स का लड़का था। १६ जुलाई सन् १७२३ ई० को पैदा हुआ और अपने जीवन-काल में ब्रिटिश चित्रकला को धरती से उठाकर आकाश तक पहुँचा गया। होगार्थ उस समय देश में प्रसिद्ध हो रहा था, पर उसकी तस्वीरों की क़द्र करनेवाले बहुत थोड़े थे। उसने पुराने आचार्यों से शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, इसके विपरीत रेनाल्ड्स ने पुरानी पद्धति का अभ्यास किया था और माइकेल एंजेलो, राफाएल और क्रेजियो का अनुयायी था। अतः जनसाधारण ने उसके चित्रों का आदर दिया।

सैमुएल रेनाल्ड्स एक गाँव के पादरी थे पर बहुसन्तति थे। होनहार रेनाल्ड्स उनका दसवाँ लड़का था। उसकी पढ़ाई-लिखाई क्या हो सकती थी। गाँव की पाठशाला में थोड़ी बहुत अंग्रेज़ी और हिसाब सीखने का मौक़ा मिला और मानो सारी पढ़ाई पूरी हो गयी। इस अल्पकाल में भी रेनाल्ड्स जैसा मेधावी बालक चाहता तो बहुत कुछ सीख लेता, पर उसका मन गणित और व्याकरण के अभ्यास की अपेक्षा चित्रकारी में अधिक लगता था। घर पर बैठा तसवीरें बनाया करता। पादरी साहब कभी उसकी तसवीरें देख लेते तो नाराज़ होते और इस प्रकार समय नष्ट करने पर लड़के को मारते। जो हो, रेनाल्ड्स को बहुत थोड़े दिन शिक्षा-प्राप्ति का अवसर मिला। पर जब उसने होश सँभाला कुछ नाम हुआ। डाक्टर जानसन गोल्डस्मिथ बर्क जैसे विश्व-विख्यात पुरुषों से मिलने-जुलने का मौक़ा मिला तो उसने यह

कमी अति अल्पकाल में पूरी कर ली। इस विद्वद्गोष्ठी में अर्ध-शिक्षित जन भकुआ बनाकर निकाल दिया जाता था, पर रेनाल्ड्स का बड़ा आदर होता था। चित्रकला पर उसने जो व्याख्यान दिये हैं, अपनी सुन्दर शैली और बहुज्ञता के लिए अंग्रेज़ी साहित्य में उनका बड़ा ऊँचा स्थान है।

उस ज़माने में चिकित्सक का व्यसाय बहुत सहज था, जिसने अंग्रेज़ी और लैटिन की दो-चार पुस्तकें पढ़ लीं और किसी डाक्टर की दूकान में रहकर रोगों और औषधियों के नाम याद कर लिये, वह चिकित्सा-कार्य करने का अधिकारी हो जाता था। पादरी साहब ने रेनाल्ड्स के लिए यही पेशा तजवीज़ किया और अगर वह वैद्य-व्यवसाय की ओर झुकता तो निश्चय ही वैद्यराज बन जाता। उसका सिद्धान्त था कि श्रम, अध्यवसाय और लगन प्रतिभा के पर्याय हैं।

चित्रकला का पहला पाठ रेनाल्ड्स ने अपनी दो बहनों से पढ़ा, जिनकी इस कार्य में कुछ रुचि थी। जो कुछ वह अंकित करती, रेनाल्ड्स तुरंत उसकी नकल उतार लेता। इसके सिवा सचित्र पुस्तकों की भी नक़ल किया करता। इस प्रकार बचपन से ही उसकी दृष्टि में ग्रहण-शक्ति और हाथों में सफ़ाई आने लगी। अभी आठ ही बरस का था कि कहीं से चित्रकला की एक पुस्तक उसके हाथ लग गयी। फिर क्या था, बड़े प्रेम से उसका पारायण कर डाला। इस अध्ययन का फल यह हुआ कि उसने अपनी पाठशाला का एक नक़शा खींचा। पादरी साहब ने यह नक़शा देखा तो बेटे की पीठ ठोंकी और जब रेनाल्ड्स को मालूम हो गया कि पिताजी भी मेरे शौक़ को पसन्द करते हैं तो वह चित्रकारी में जी-जान से लग गया। धीरे-धीरे घर के सब लोगों के सबीह बना डाले। दोस्तों ने यह तसवीरें देखीं तो बढ़ावे देने लगे। बीसवें साल ने उसे पक्का चित्रकार बना दिया।

पर जिस क़सबे में वह रहता था, वह बिलकुल गुमनाम था।

कल्पना और विचारों को विस्तृत करने, कला के आचार्यों से मिलने, उनकी शिक्षा से लाभ उठाने और नाम-यश कमाने के साधनों का सर्वथा अभाव था। इसलिए आवश्यक हुआ कि वह लंदन आकर कला का अभ्यास करे। हडसन उस समय मुखाकृति के चित्रण में प्रसिद्ध था, उसका शिष्य हो गया। पर हडसन में इसके अतिरिक्त और कोई योग्यता न थी। रेनाल्ड्स जैसा प्रतिभावान् बालक जिसके हृदय में उच्चाकांक्षा और उमंगों का स्रोत उफन रहा था, उसकी शिक्षा से क्या लाभ उठा सकता था। हडसन ने उसकी प्रवृत्ति का अन्दाज़ा न पाया। मध्यम श्रेणी के एक इटालियन चित्रकार के चित्रों की उससे नक़ल कराने लगा। रेनाल्ड्स ने इस काम को ऐसी ख़ूबी से किया कि असल और नक़ल में बाल बराबर भी अन्तर न रहा। फिर भी उसने ज्यों त्यों करके यहाँ दो बरस काटे। इस अरसे में उसने बहुत- से चित्र बनाये। कहते हैं कि उनमें उसके भावी यश की झलक मौजूद है। शिष्य की कुशलता देखकर गुरु के हृदय में ईर्ष्या की आग जलने लगी। अन्त में एक चित्र, जिसके निर्माण में रेनाल्ड्स ने अपनी सारी कला लगा दी थी, दोनों के बिलगाव का कारण हुआ। उसने समझ लिया कि गुरुजी को जो कुछ सिखाना-पढ़ाना था, सिखा-पढ़ा चुके। अपने क़सबे को लौट आया। इस विच्छेद को वह अपने लिए बड़ा शुभ माना करता था, क्योंकि कुछ दिन वह और हडसन की शागिर्दी में रहता तो उसको भी उसी नक्क़ाली की आदत लग जाती, जो सच्ची चित्रकला की जान लेवा है। इस बेकारी में उसने तीन साल काटे, पर सच यह है कि इसी अभ्यास ने उसे रेनाल्ड्स बना दिया। इस समय चित्र बनाने के सिवा उसे और कोई काम न था। इसी काल में उसने प्रकृति की पुस्तक का भी अध्ययन किया जो आगे चलकर उसके यश और सफलता में बड़ा सहायक हुआ।

जब वह हडसन की शिष्यता में था, एक दिन बाज़ार में नीलाम

देखने गया। बहुत से आदमी मण्डलाकार खड़े थे। अचानक 'पोप, पोप' का शोर हुआ और सुप्रसिद्ध कवि पोप आता दिखाई दिया। लोग सम्मान-प्रकाश के लिए इधर-उधर हटने और झुक-झुककर अभिवादन करने लगे। जिसके पास से होकर वह गुज़रता, वह उसका हाथ छू लेता, जब रेनाल्ड्स की बारी आयी तो पोप ने स्वयं उसके दोनों हाथ पकड़कर हिला दिये। रेनाल्ड्स सदा गर्व के साथ इस घटना का वर्णन किया करता था। इससे प्रकट होता है कि विद्वानों के लिए उसके हृदय में कितना आदर था और उस काल के जनसाधारण पण्डितों और कवियों के साथ कैसे प्रेम और आदर का बर्ताव किया करते थे।

रोम नगर सदा से चित्रकारों का तीर्थ-स्थान रहा है। यही नगर है जहाँ यूरोपीय चित्रकला की नींव डाली गयी थी। पोप लियो के समय से यह नगर सदा नामी चित्रकारों का आवास रहा है। राफाएल, माइकेल एंजेलो क्रेजियो जिनको चित्रविद्या का विश्वकर्मा कह सकते हैं, इसी पुनीत भूमि से उत्पन्न हुए थे। ल्यूनार्डो और टेशीन इसी बस्ती के बसनेवाले थे। उन्होंने जो तसवीरें ढालकर वहाँ की चित्रशालाओं में रख दीं, वह आज तक बेजोड़ और चित्रकला की इयत्ता समझी जाती हैं। जैसे कालिदास, होमर और फिर्दौसी का काव्य अनुकरण से परे है, उसी तरह चित्र भी नक़ल की नोच-खसोट से सुरक्षित हैं। सारे यूरोप के चित्रकलाप्रेमी इन चित्रों को देखने जाते हैं। कोई चित्रकार उस समय तक चित्रकार नहीं बन सकता, जब तक इन चित्रों का भली-भाँति अध्ययन न कर ले। यद्यपि उन पर चार-चार सदियों की धूल पड़ी हुई है। पर उनकी रंगत की ताज़गी में तनिक भी अंतर नहीं पड़ा है, मालूम नहीं कहाँ से ऐसे रंग लाये हैं जो मद्धिम होना जानते ही नहीं। रेनाल्ड्स ने रोम की बड़ी बड़ाई सुनी थी और उसके दिल से लगी थी कि किसी तरह वहाँ भी सैर करे, पर पास में पैसा न होने से लाचार था। आख़िर उसके

एक नाविक मित्र ने उसे रोम की सैर का निमन्त्रण दिया और दोनों दोस्त चल खड़े हुए। पहले पुर्तगाल की राजधानी लिसबन की सैर की, फिर जबलुल तारिक़ (?) गये और यहाँ से रोम पहुँचे। इस नगर ने पहले पहल उसके चित्त पर जो प्रभाव डाले, उनका उसने विस्तार से वर्णन किया है। कहता है—

"अकसर ऐसा होता है कि लोग पोप की चित्रशाला* की सैर के बाद जब विदा होने लगते हैं तो पथप्रदर्शक से पूछते हैं यहाँ राफ़ाएल के चित्र कहाँ हैं ? वह इन तसवीरों को सरसरी तौर पर देख जाते हैं और इन में उन्हें कोई ख़ास ख़ूबी नहीं दिखाई देती। मैंने जब पहले-पहल चित्रशाला की सैर की तो मुझको भारी निराशा हुई। यही स्थिति मेरे एक चित्रकार मित्र की थी। पर यद्यपि मुझको इन चित्रों को देखने से वह आनन्द न आया, जिसकी आशा थी, फिर भी एक क्षण के लिए भी मेरे मन में यह बात न आयी कि राफाएल की प्रसिद्धि दूर के ढोल हैं। मेंने इस विषय में अपने ही को दोपी ठहराया। ऐसी अद्भुत अनुपम वस्तुओं से प्रभावित न होना बड़ी लज्जा की बात थी। पर इसका कारण यह था कि न तो मैं उन सिद्धान्तों से परिचित था, जिन पर वह चित्र बनाये गये थे और न इसके पहले कभी मुझे चित्रकला के आचार्यों की कृतियाँ देखने का अवसर मिला था। मुझे अब मालूम हुआ कि चित्रकला के विषय में जो विचार मैं इंगलैण्ड से लाया हूँ, वह बिलकुल ग़लत और बहकानेवाले हैं। आवश्यक जान पड़ा कि उन सब भ्रान्त विचारों को मैं अपने मन से निकाल डालूँ और अन्त में ऐसा ही किया। इस निराशा के बाद भी एक तसवीर की नक़ल उतारने लगा। मैंने उसे बार-बार देखा, उसकी ख़ूबियों और बारीकियों पर देर तक ग़ौर

* यह चित्रशाला पोप लियो ने स्थापित की थी और इसमें इटली के यशस्वी चित्रकारों की कृतियाँ रखी हुई हैं।

किया। थोड़े ही अरसे में मेरे हृदय में नयी रुचि और नयी अनुभूति उत्पन्न हो गयी।"

किसी कला के सौंदर्य को पहचानने, समझने और उससे आनन्द प्राप्त करने की योग्यता एक अर्जित गुण है जो बिना कठोर श्रम, मनोनिवेश और अभ्यास के प्राप्त नहीं हो सकती। काव्य या संगीत की सच्ची और मार्मिक रसानुभूति प्राप्त करने के लिए इन्हीं बातों की आवश्यकता है। कौन नहीं जानता कि अनभ्यस्त दृष्टि सच्चे और झूठे मोती, कांच के टुकड़े और हीरे में कठिनाई से विभेद कर सकती है। यह साधारण बात है कि एक गँवार अरसिक व्यक्ति ऊँचे से ऊँचे पहाड़, सुन्दर से सुन्दर झील और अद्‌भुत से अद्‌भुत उद्यान से वैसे ही उदासीन रहता है, जैसे सूखी रोटी और झोंपड़े से प्रभात की सुनहरी छटा, चाँदनी रात की मनोहारिता, नदीकूल का प्राणपोषक समीर, दूर्वादल की मखमली हरियाली, उसके लिए साधारण अर्थरहित बातें हैं। उसको इनके सौंदर्य की अनुभूति ही नहीं, यद्यपि यही वस्तुएँ हैं जो एक संस्कृत रुचिवाले को आनन्द-विभोर कर सकती हैं।

रेनाल्ड्स ने इन चित्रों के गुणों और विशेषताओं की बड़े विस्तार से विवेचना की है। कहीं उनके रंग-विधान के रहस्यों का उद्‌घाटन किया है। कहीं विभिन्न चित्रकला-विशारदों की विशेषताओं की तुलना है। इटली में चित्रकारों के कई रंग या शैलियाँ हैं। रोम, वेनिस, फ़्लोरेंस, मिलान, प्रत्येक भिन्न-भिन्न रंग का केन्द्र है। रेनाल्ड्स ने हर एक रंग की ख़ूबियों और बारीकियों की विस्तार से विवेचना की है। पर स्वयं किसी रंग का अनुसरण नहीं किया। चित्रकार को अपनी तुलना और निरीक्षण की शक्तियों पर ख़ूब ज़ोर डालना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि अपने चित्रों के लिए वह दूसरों की पुस्तकों से नियम ढूँढ़े। चित्रों के अवलोकन और समीक्षा से उसे अपने नियम आप

निकाल लेने चाहिएँ। नियम चित्रों से बनाये गये हैं, न कि चित्र नियमों से। रेनाल्ड्स कहता है—"चूँकि नक़ल करने में दिमाग़ को कुछ मेहनत नहीं करनी पड़ती, इसलिए धीरे-धीरे उसका ह्रास हो जाता है और उपज तथा मौलिक कल्पना की शक्तियाँ, जिनको खास तौर से काम में लाना चाहिए, इस अनभ्यास के कारण नष्ट हो जाती हैं।" इटली में वह तीन साल रहा, और हर रंग और हर ढंग के चित्रों और चित्र-संग्रहों को अध्ययन की दृष्टि से देखा। परन्तु इंगलैंड लौटकर उसने चित्रकला के जिस अंग को अपनाया, वह था शबीहनिगारी अथवा आकृति-चित्रण। इसका एक कारण तो संभवतः यह होगा कि उस समय इंगलैंड में कुछ क़द्र थी तो इसी की, जैसा कि होगार्थ के एक चित्र से प्रकट होता है। दूसरा कारण यह था कि उसने स्वभावतः वह ऊँची कल्पना और उपज न पायी थी, जिसके बिना धार्मिक और ऐतिहासिक चित्र बनाना संभव नहीं है।

रोम से वापस आने पर वह कुछ दिनों देश में विचरण करता रहा। फिर लंदन में बस गया। जब उसने दो-एक चित्र बनाये तो चित्रकारों ने हल्ला मचाना शुरू किया, क्योंकि उन चित्रों में प्रचलित रुचि और रीति का अनुसरण नहीं किया गया था। पर यह हो-हल्ला अधिक दिन न टिक सका। ग्राहक जब सौदा अच्छा देखता है, तब ख़ुद मोल लेता है। उसे फिर इसकी परवाह नहीं होती कि दूसरे कलाकार उसके विषय में क्या कहते हैं। संभ्रान्त पुरुष और स्त्रियाँ दल के दल पहुँचने लगीं। हर रईस की यह इच्छा होती थी कि चित्रकार मुझे वीर पुरुष या दार्शनिक बनाकर दिखाये। प्रत्येक भद्र महिला चाहती थी कि मैं स्वर्ग की अप्सरा बना दी जाऊँ, मेरे चेहरे की झुर्रियाँ तनिक भी दिखाई न दें। रेनाल्ड्स की निगाह ग़ज़ब की पैनी थी, सबकी इच्छा पूरी कर देता था। वह कहा करता था कि शबीह बनानेवालों के लिए ऐसे स्वभाव को आवश्यकता होती है,

जैसा डाक्टरों का होता है। उन्हें हर बात में अपने ग्राहकों का मन रखना पड़ता है।

सन् १७५४ ई० रेनाल्ड्स की डाक्टर जानसन से मित्रता हो गयी। वह डेवन शायर गया हुआ था। वहाँ उसे एक मित्र के यहाँ डाक्टर महोदय का लिखा हुआ कवि वाल्टर सैवेज का जीवनचरित दिखाई दिया। उसमें ऐसा मन लगा कि उसने उसे खड़े-खड़े समाप्त करके दम लिया। उस समय से उसके मन में उस रोचक पुस्तक के रचयिता के दर्शन करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी। संयोगवश एक रईस की आकस्मिक मृत्यु के अवसर पर दोनों का मिलन हो गया। उस व्यक्ति से बहुतों का उपकार होता था। लोग उसके हृदय और मस्तिष्क के सुन्दर गुणों की बड़ाई कर रहे थे। रेनाल्ड्स के मुँह से निकला—निस्संदेह यह घटना बड़ी दुःखद है; पर अब बहुत से लोग उपकार के भार से छुटकारा पा गये। उपस्थित जनों को उसकी यह उक्ति बुरी लगी, पर डाक्टर जानसन बहुत प्रसन्न हुए और लोगों से कहा कि यह व्यक्ति विचारवान् जान पड़ता है। जब रेनाल्ड्स घर लौटा तो डाक्टर साहब उसके साथ-साथ आये। इस प्रकार उस मित्रता का आरम्भ हुआ, जो दोनों के जीते जी बड़े प्रेम से निभ गयी। डाक्टर महोदय का स्वभाव रूखा, अभिमानी और कुछ-कुछ अक्खड़ था। उनके जीवन का बड़ा भाग अनादर, अर्थ-कष्ट और एकान्तवास में कटा था। ऊँची श्रेणीवालों से साथ के न होने के कारण उठने-बैठने और बात-चीत का तौर-तरीक़ा भी न जानते थे। इस कारण बड़े आदमियों की मण्डली में उनका अधिक आदर-मान न होता था। इसमें सन्देह नहीं कि उनके पाण्डित्य की धाक सब पर बैठी हुई थी। पर उसके साथ ही उनका भोंडा तौर-तरीक़ा, कुरूप चेहरा, मुँहतोड़ उत्तर देने की आदत और बेलाग स्पष्टवादिता उन्हें धनी और प्रभावशाली पुरुषों के हृदयों में स्थान न पाने देती थी। लक्ष्मी के कृपापात्र

ा-बुद्धि में छोटे ही क्यों न हों, यह नहीं भूलते कि हम रईस वह चाहते हैं कि विद्वान हो या गुणी, जब प्रार्थी बनकर तो खुशामद और नाज़-बरदारी का सामान साथ लेता । डाक्टर जानसन के स्वभाव में यह बात न थी । वह जब ो मण्डली में आते तो मुस्कराकर और सिर झुकाकर आदर प्रार्थना न करते थे, किन्तु सम्मान को अपनी योग्यता का ार समझते थे । और ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये और उनकी ात्ता और विचारशीलता का परिचय लोगों को मिलता गया, यों उनमें झल्लापन और कटुभापिता के दोप होते हुए भी बड़े सभी उनके सामने श्रद्धा से सिर झुकाने को बाध्य हुए । इसके विपरीत रेनाल्ड्स स्वभावतः हँसमुख और मिलनसार ौर आवश्यकता-वश ऊँची श्रेणी की रहन-सहन का अनु- करता था । चित्रकला के पुराने आचार्यों में उसे सच्ची थी । राफ़ाएल और माइकेल एंजेलो को वह किसी सिद्ध मा या पैगम्बर से कम न समझता था । कहता है—"चित्र ाभाविकता का होना कला-निपुणता है और इसकी कमी, रंग भरने में हो या अकृत चित्र में, दोष है । रंग-विधान दो का होता है । एक परिष्कृत, सुन्दर और सौम्य, दूसरा भड़कीला और आँखों में समा जानेवाला । कलाकार पहले के रंग का व्यवहार करते हैं, व्यवसायी चित्रकार दूसरे के रंग का । कुछ चित्रकारों का खयाल है कि ऐसी सादगी को उदास और अंधा दीपक बना देती है, पर यह कला ाष है । इससे चित्र की शान्तिदायिनी शक्ति घट जाती है ।"

ेनाल्ड्स को विद्वानों की संगति बड़ी प्रिय थी । शाम को बजते ही उसकी मेज सजा दी जाती थी और गुणीजन इर्द-गिर्द जमा होने लगते थे । कवि अपनी कविता वहाँ और काव्य-रसिकों से दाद पाते थे । जानसन इस मण्डली ा थे । गोल्डस्मिथ भी कभी-कभी आ निकलते और अपनी

सरलता-भरी बातों तथा बालोचित चेष्टाओं से मण्डली का मनोरञ्जन करते थे। धुरन्धर राजनीतिज्ञ और वक्ता एडमंड बर्क भी अकसर दिखाई देते थे, पर वह स्वभाव के अधिक विनोदप्रिय और चुलबुले न थे। रेनाल्ड्स विद्वानों का आदर ही न करता था, अकसर उनकी आर्थिक सहायता भी करता रहता था। जिस व्यक्ति की बड़ाई जॉनसन और बर्क की लेखनी से निकली हो, उनके अमरत्व-लाभ में काल कब बाधक हो सकता है।

१७६० ई० में रॉयल एकेडमी की नींव पड़ी। इङ्गलैण्ड में यह चित्रकला की नियमित शिक्षा का पहला यत्न था। जिसकी आबोताब में कई सदियाँ गुज़र जाने पर भी कोई अन्तर नहीं आया। रेनाल्ड्स इस विद्यालय का अन्तकाल तक अध्यक्ष रहा।

ऊपर कहा जा चुका है कि रेनाल्ड्स के हृदय में पोप कवि के लिए बड़ा आदर था। पोप को जब काव्य-रचना से अवकाश मिलता तो चित्रकारी किया करते। हाथ के एक पंखे पर उन्होंने एक यूनानी कहानी को ज़री के तारों से चित्रित किया था। यह पङ्खा बाज़ार में नीलाम होने के लिए आया। रेनाल्ड्स को इसकी ख़बर मिली तो उसने एक आदमी भेज दिया कि वह ३० पौंड तक बोली बोलकर इस दुष्प्राप्य वस्तु को ख़रीद ले। मगर यह हज़रत ३० शिलिङ्ग से आगे न बढ़े। आखिर एक दूसरे खरीदार ने उसे दो पौंड पर ले लिया। रेनाल्ड्स को इस पंखे का इतना शौक़ था कि उसने दूना दाम देकर उसे नये ख़रीदार से ख़रीद लिया।

एक दावत के मौक़े पर जॉनसन, बर्क, गेरिक, गोल्डस्मिथ सब जमा थे। आपस में ख़ुशगप हो रही थी। अकस्मात् किसी ने कहा—आओ, एक दूसरे को मृत्यु का कुतबा कहें; पर शर्त यह है कि वह आशुरचना हो। इस पर लोगों ने अपना-अपना कवित्व दिखाना आरम्भ किया। गेरिक को शरारत जो सूझी तो व्यंग्योक्ति के कुछ पद्य कहे, जिनमें गोल्डस्मिथ की खबर ली

गयी थी। गोल्डस्मिथ को यह शरारत बहुत बुरी लगी। इसके जवाब में उन्होंने 'बदला' नाम से एक ज़ोरदार कविता लिखी। दुःख है कि इस जन्मसिद्ध कवि की यही अन्तिम रचना थी। ऐसा बेपरवाह, ऐसा मस्त स्वभाव का और ऐसी सुन्दर कल्पना-वाला कवि अंग्रेज़ी भाषा में फिर न उत्पन्न हुआ। यह लोकोत्तर प्रतिभा जिस देह में छिपी थी, वह कुछ अधिक सुन्दर न थी। रेनाल्ड्स ने गोल्डस्मिथ का जो चित्र खींचा है, उसमें वह बहुत ही कमज़ोर दिखाई देता है। पर उसकी बहिन का कहना है कि रेनाल्ड्स ने जितनी चापलूसी इस चित्र के बनाने में ख़र्च की, उतनी और किसी चित्र में नहीं की। रूप और गुण में अन्तर होना असाधारण बात नहीं है।

१७७३ ई० में रेनाल्ड्स ने उगोलीनो (Ugolino) का चित्र बनाया। यह इटली के सुप्रसिद्ध कवि दान्ते की एक रचना का नायक है। पर रेनाल्ड्स जैसा चित्रकार, जो रमणियों के होंठ और ग्रीवा का शृङ्गार करने में अपनी कला का उपयोग करता रहा हो, दुःख और विपत्ति की कहानी को किस प्रकार चित्रित कर सकता। दान्ते का दृढ़चित्त नायक रेनाल्ड्स के आलेखन में क्षुधा-क्षीण और विपन्न दिखाई देता है। उसके वज्र-संकल्प और महानुभावता का तनिक भी परिचय नहीं मिलता। पर रेनाल्ड्स की पेंसिल से जो कुछ निकलता था, उसका आदर होना निश्चित था। एक रईस ने इस चित्र को ४०० पौंड में ख़रीद लिया। इसी साल जुलाई महीने में रेनाल्ड्स आक्सफ़र्ड की सैर को गया जहाँ उसकी बड़ी आवभगत हुई और सम्मान रूप में 'डाक्टर ऑव् ला' (कानून के आचार्य) की उपाधि प्राप्त हुई। यहाँ उसकी मुलाक़ात डाक्टर बीटी से हुई, जिसकी गणना उन दिनों विद्वानों और विचारकों में थी। 'सत्य की अपरिवर्तनशीलता' पर उसने एक पुस्तक लिखी थी जिसमें उसने गिबन, वाल्टेयर और ह्यूम जैसे स्वाधीनचेता विद्वानों की निन्दा की थी। रेनाल्ड्स स्वयं दर्शन-

शास्त्र से परिचित न था, इसलिए उसके हृदय में डाक्टर बीटी के लिए बड़ा आदर उत्पन्न हो गया। जब वह लंदन आया तो उसने बीटी का एक चित्र बनाया जो उसकी सर्वोत्तम कृतियों में है। बीटी आक्सफ़र्ड के पण्डितों के पहनावे में बैठा है। 'सत्य की अपरिवर्तनशीलता' उसकी बग़ल में है। उसके पार्श्व में सत्य का देवता खड़ा है जो नास्तिकता, धर्मविमुखता और अवज्ञा पर विजयी हो रहा है। इन पराजित आकृतियों में से, एक बहुत दुबली-पतली और विलासप्रिय दिखाई देती है। यह नास्तिकता का चित्र है और वाल्टेयर से मिलती है। दूसरी, हृष्ट-पुष्ट, मोटी-ताज़ी है। यह धर्म-विमुखता की तसवीर है और ह्यूम से मिलती है। तीसरी, अवज्ञा का चित्र है और गिबन का प्रतिबिम्ब जान पड़ती है। गोल्डस्मिथ ने इस चित्र को देखा तो उसके रोष की सीमा न रही। बोला, "आप ऐसे गुणी के लिए इस हद तक चापलूसी पर उतर आना बड़ी ही निन्दनीय बात है। आपको वाल्टेयर जैसे महामति पुरुष को बीटी जैसे मूर्ख बकवासी के मुक़ाबले में ज़लील करने का क्योंकर साहस हुआ। बीटी और उसकी पुस्तक दस बरस में विस्मृति के गर्त में विलीन हो जायगी, पर आपकी कृति और वाल्टेयर की कीर्ति अमर है।" गोल्डस्मिथ ने बहुत ठीक कहा था। बीटी का अब कोई नाम भी नहीं जानता पर वाल्टेयर, ह्यूम और गिबन के नाम दुनिया में सूर्य की तरह चमक रहे हैं।

रेनाल्ड्स के चित्रों का रंग टिकाऊ न होता था। शोख़ और भड़कीले रंगों को वह ख़ुद नापसन्द करता था, पर उसके अधिकतर चित्र चटकीले ही दिखाई देते हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उसे अपने ग्राहकों का मन रखना था और उस समय की लोकरुचि चटकीले चित्रों को अधिक पसन्द करती थी। वह अपने रङ्ग-विधान के नियम और विधि किसी को भी न बताता था। प्रिय से प्रिय शिष्यों को भी उसने अपने रङ्गों का

मशाला न बताया। उसकी यह कृपणता बिलकुल भारतीय गुणियों की जैसी थी, जो अपने गुण और करतब अपने साथ ले जाते हैं। हाँ, वह स्वयं पुराने उस्तादों के रंग-रोगन की विधियों की जाँच-पड़ताल किया करता था। उसने अपनी कमाई का बहुत बड़ा हिस्सा चित्रकला के उत्कृष्ट नमूनों को ख़रीदने में ख़र्च किया। उसका संग्रह आज तक मौजूद होता तो वह इस ललितकला की बहुमूल्य निधि समझा जाता। पर रेनाल्ड्स ने उन्हें शोभा-शृङ्गार के लिए न ख़रीदा था, खोज और अनुसंधान के लिए ख़रीदा था। एक-एक चित्र को लेकर वह शल्य-चिकित्सकों की तरह चीर-फाड़ करता था, जिसमें उसे मालूम हो जाय कि अस्तर किस रंग का है, उस पर कौन रंग दिया गया और कौन-कौन से रङ्ग एक में मिलाये गये थे। इस परीक्षा के बाद तसवीर किसी काम की नहीं रह जाती थी।

रेनाल्ड्स के चित्रों से प्रकट होता है कि वह प्रकृति का बड़ी सूक्ष्म और धार्मिक दृष्टि से निरीक्षण किया करता था। अपनी कला के हीरे विभिन्न खानों से निकालता। कैसी ही तुच्छ सम्मति क्यों न हो, उस पर अवश्य ध्यान देता। बच्चे तो मानो उसके शिक्षक ही थे। उसका कथन था कि बच्चों की चेष्टा और अंग-भंगी बनावट से रहित होने के कारण मोहक होती है। बच्चे उसकी चित्रशाला में आते तो उनकी चेष्टाओं को वह बड़े ध्यान से देखा करता और जब वह मारे ख़ुशी के फूल उठते और चित्रों की भाव-भंगी का अनुकरण करने लगते तो इस दृश्य से उसे बड़ा आनन्द मिलता। अपने एक संस्मरण में वह लिखता है, "मेरी समझ में नहीं आता कि अनभिज्ञ (अनधिकारी ?) व्यक्ति का मन चित्रों के विषय में क्यों न स्वीकार किया जाय। जैसे अगर कोई साधारण आदमी किसी चित्र को देखकर कहे कि इसका आधा चेहरा क्यों स्याह है या नाक के नीचे काला धब्बा क्यों है, तो मैं यह नतीजा निकाल लूँगा कि रङ्ग गहरा हो

गया है या अच्छी तरह साफ़ नहीं किया गया। अगर यह रंग प्रकृति के अनुरूप होते तो किसी का ध्यान उनकी ओर न जाता।

रेनाल्ड्स की ख्याति दिन-दिन बढ़ती जाती थी। १७८५ ई० में रूस की सुप्रसिद्ध महारानी केथराइन ने उससे एक तसवीर की फ़रमाइश की। महीनों के सोच-विचार के बाद उसने एक ऐसा विषय चुना जो कल्पना और रोचकता की दृष्टि से साधारण है। महारानी केथराइन संकल्प और विचारों की दृढ़ता में अपना सानी न रखती थीं। इतिहास इसका गवाह है। इसलिए रेनाल्ड्स ने शिशु हरक्युलीज़ को दो साँपों का गला घोंटते हुए दिखाया। यद्यपि केथराइन को ऐसी जटिल कल्पना के समझने की बुद्धि न थी, फिर भी उसने दिल खोलकर क़द्रदानी की। ५०० पौंड पुरस्कार और एक सोने की सन्दूक़ची, जिसमें उसका चित्र था, उपहार रूप में भेजी।

उन्हीं दिनों इंगलैण्ड के एक मनचले प्रकाशक ने शेक्सपियर की रचनाओं के सचित्र संस्करण निकालने का विचार किया। रेनाल्ड्स ने उसके लिए तीन चित्र बनाये। पहला चित्र उस हास्यावतार का है, जिसका नाम अंग्रेजी साहित्य में दृष्टान्त बन गया है। पिक एक बहुत ही चपल चुलबुले स्वभाव का विदूषक है, जो रँगीले बादशाह आठवें हेनरी का सखा है। रेनाल्ड्स ने इस चित्र में सचमुच करामात कर दी है। उसका हाथ कोई शरारत-भरी चेष्टा करने को उद्यत दिखाई दे रहा है और आँखों से किसी को छेदने, किसी से कोसे जाने और गालियाँ सुनने की लालसा टपक रही है। दूसरा चित्र मैकबेथ का है जिसमें सरोवर और चुड़ैलों का दृश्य दिखाया गया है। इस रङ्ग में उसके और भी उत्तमोत्तम चित्र विद्यमान हैं।

सर जोशुआ रेनाल्ड्स अब ६६ बरस का हो गया था और यद्यपि धन-मान में कोई कमी न हुई थी, पर दोस्तों के उठ जाने

का दुःख इनसे मिलनेवाले सुख से बहुत अधिक था। गोल्डस्मिथ, जॉनसन, बर्क, गैरिक सब एक-एक करके साथ छोड़ते गये। यहाँ तक कि १७८९ ई० में उसके नाम भी काल का बुलावा आ पहुँचा। आँखों की ज्योति जाती रही। १७९२ ई० में उसने इस नाशमान् जगत् को त्याग कर परलोक को पयान किया।

उच्च कोटि की बहुसंख्यक शबीहें ही रेनाल्ड्स की यादगार नहीं हैं, उसकी विद्वत्तापूर्ण वक्तृताएँ और कवित्वमय तथा ऐतिहासिक चित्र भी उसकी कलानिपुणता का सिक्का सदा लोगों के दिलों पर बिठाते रहेंगे। भाषणों से उसका उद्देश्य उत्साही नवयुवक चित्रकारों के हृदयों पर इस कला की महत्ता स्थापित करना, उनमें प्रिय और नियमित अभ्यास की आदत डालना और चित्र-के अच्छे सिद्धान्तों से परिचित कराना था। क्या-क्या उपाय किये जायँ, किन-किन नियम-विधियों का अनुसरण किया जाय, धूप-छाँह का किस प्रकार व्यवहार किया जाय कि चित्रों में वही चमत्कार उत्पन्न हो जाय, जो पुराने उस्तादों की कृतियों में पाया जाता है। वह केवल प्रतिभा और प्रवृत्ति का ही क़ायल न था। उसका उपदेश था कि इस कला में निपुणता प्राप्त करने के लिए दिन-रात जुटे रहना, अनवरत चिन्तन और उस्तादों की कृतियों में सच्ची श्रद्धा रखना आवश्यक है।